धर्मचिन्तामणि

महामहोपाध्याय पण्डित रघुनन्दन त्रिपाठी
साहित्याचार्य सांख्ययोग—
व्याकरणोपाध्याय विद्यासागर सेक्रेटरी विहार संस्कृत
सञ्जीवन समाज विरचित

पटना—"खड्गविलास" प्रेस बांकीपुर।
बाबू चण्डीप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।
१९१५

प्रथमवार] दाम छः आना।
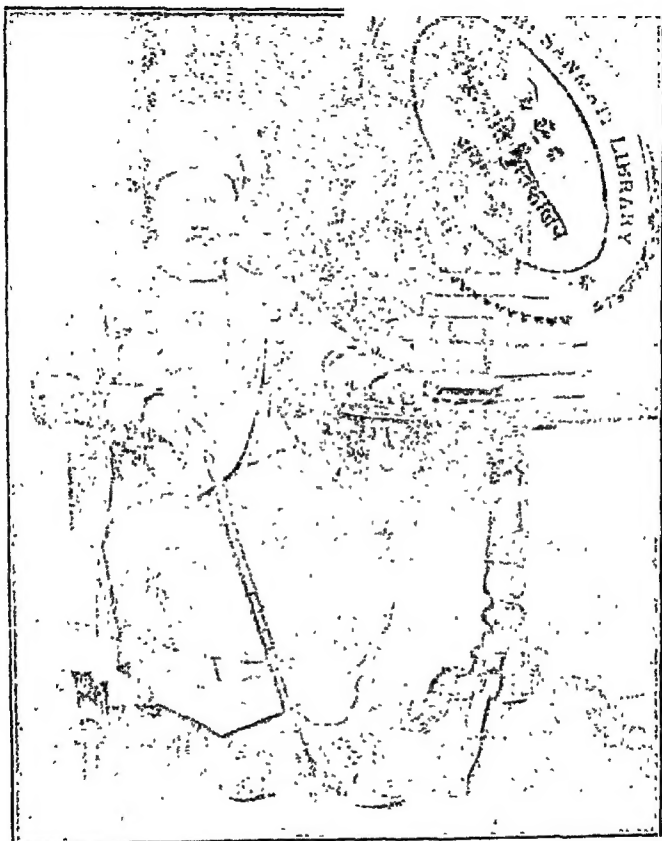
महामहोपाध्याय

पण्डित रघुनन्दन त्रिपाठी साहित्याचार्य, सांख्ययोग-व्याकरणोपाध्याय:

सेक्रेटरी विहार संस्कृतसञ्जीवन समाज।

समर्पण ।

त्वदीयं वस्तु गौरीश ।
तुभ्यमेव समर्पितम्
दयस्व धर्म्मनाथेश
रत्नेश्वर नमोस्तुते ॥

रघुनन्दन त्रिपाठी

विषयसूची।

भूमिका ।

मैं ने इस धर्मग्रन्थ "धर्मचिन्तामणि" को १९६१ विक्रमाब्द को में लिखा । बहुत सी विद्वानों ने इस को बहुत उपयोगी बताया । उसी समय मुझ को डुमरांव राज्य की महती सभा में जाने का अवसर प्राप्त हुआ । वहां मैं ने इस ग्रन्थ को भोजपुराधीश्वर भोजवंशावतंस—परमार क्षत्रिय कुलभूषण—स्वर्गीय श्री महाराज-सर-राधाप्रसाद-सिंह-साहिब-बहादुर—के० सी० आई० ई० की धर्मपत्नी स्वर्गीया महारानी—वेणी प्रसाद कुमारी जी को सुनाया । उन ने सुन कर बड़ी प्रसन्नता के साथ इसे प्रकाशित कराने की इच्छा प्रगट की और मुझे बहुत सा पारितोषिक भी दिया । किन्तु अकस्मात् उन का स्वर्गवास हो गया इस लिये यह ग्रन्थ आज तक योंही पड़ा रहा ।

अब मैं ने अपने इष्ट मित्रों के विशेष आग्रह से सर्व साधारण के धार्मिक उपकार के लिये इसे मुद्रित करा कर प्रकाशित कराया है । यदि इस से सनातन धर्मावलम्बियों का कुछ भी उपकार होगा तो मैं अपने श्रम को सफल समझूंगा ।

गया ।	
फा० शु० द्वितीया १९७१	रघुनन्दन त्रिपाठी,

श्रीगणेशायनमः ।

धर्मचिन्तामणि

धर्मलक्षण ।

श्रुतिस्मृत्युदितः सद्भिः सेवितो भुक्तिमुक्तिदः ।
सनातनोऽसौ भगवान् धर्मो विजयतेतराम् ॥

श्रीमान् सर्व्वशक्तिमान् करुणानिधान सच्चिदानन्द परमेश्वर की इच्छा से बनी हुई सृष्टि में ब्रह्मादि कीटपर्य्यन्त सकल चराचर प्राणी अपने २ कर्मानुसार अनेक जन्मों को पाकर इस असार संसारसागर में मग्नोन्मग्न होते रहते हैं। महात्मा लोग जन्म जन्मान्तर के पुण्यबल से सर्व शरीरों में श्रेष्ठ और चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) के साधक मनुष्य-शरीर को पा कर धर्मकर्मानुष्ठान से यमनियमादि योगाङ्ग-द्वारा वाह्य तथा अन्तः शुद्ध कर और निर्मलचित्त हो कर सत्सङ्गति से जगदीश्वर के चरणारविन्द में भक्ति करते हैं और उसी (भक्ति) के द्वारा ज्ञान पाकर भवसागर से मुक्त होते हैं। ईश्वर में परमप्रेम को भक्ति कहते हैं। "भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे"। भक्ति से ज्ञान होता है और ज्ञान से मुक्ति होती है।

"भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते" "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः"

अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है।

सम्प्रति कराल कलिकाल के प्रभाव से पाखण्डियों ने अनेक मतमतान्तर का प्रचार कर सनातन धर्म को छिन्नभिन्न कर दिया है और कर रहे हैं, जिस से वञ्चित हो बहुत लोग किंकर्त्तव्य-विमूढ़ [भ्रान्त] हो कर आपात-रमणीय क्षणिक सुख को आनन्द मानते हैं और अन्ततः इस जीवन के अमूल्य समय को व्यर्थ व्यतीत कर दारुण दुःखों को भोगते तथा पश्चात्ताप करते कालचक्र में पड़े रहते हैं। इस चक्र से उद्धार करनेवाला केवल सनातन धर्म ही जीवन की कठोर मरुभूमि में स्वर्गीय मधुर मन्दाकिनी रस है। इसी में गोता लगाने से हृदय सरोज विकसित होता है और सब दुःखों से रहित हो कर मनुष्य निर्मल आनन्दामृतरस का पान कर ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख पा सकते हैं। जहां धर्म है वहां विजय है " यतो धर्मस्ततो जयः "। यद्यपि धर्म अनेक हैं और उन की गति सूक्ष्म हैं; तथापि अपने धर्म को त्याग कर दूसरे के धर्म का अवलम्बन करना उचित नहीं है। श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन के प्रति स्वयं कहा है कि—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"

अर्थात् अपने धर्म में मरण भी श्रेयस्कर है और दूसरे का धर्म भयदायक है। अतः सनातन धर्मावलम्बियों को केवल अपने ही धर्म की रक्षा तथा प्रचार करना चाहिये। यद्यपि इस घोर कलिकाल में सनातन धर्म निर्बल हो गया है

तथापि इस को छोड़ना नहीं चाहिये, क्योंकि इसी के उद्देश्य से श्री कृष्ण जी ने अर्जुन से कहा है कि हे अर्जुन जब २ धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब २ मैं स्वयं अवतार लेकर धर्म की रक्षा करता हूं।

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"

धर्म ही सब का मूल है। वेद में लिखा है :—
"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वम्प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति"

अर्थात् धर्म ही संसार का आधार है। लोक में प्रजा सब धर्मिष्ठ ही का अनुसरण करती हैं; धर्म से पाप दूर होता है धर्म ही सब का अवलम्ब है। अतएव धर्म ही को श्रेष्ठ कहते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि—

"धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम्"

तात्पर्य यह है कि सज्जन पुरुषों का धर्म ही हित है और धर्म ही आधार है।

धर्म शब्द धारणार्थक धृ धातु से बना है।

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृता प्रजाः।"

जो इस जगत् में प्राणियों का आधार है और जिस के बिना यह संसार चल नहीं सकता, वह धर्म है। मनु जी

ने लिखा है कि वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रिय, ये चारो साक्षात् धर्म के लक्षण हैं।

"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधम् प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥"

जो सदा से चला आता है और नित्य है, उसे सनातन धर्म कहते हैं। इस संसार में मनुष्य का साथी केवल धर्म ही होता है। बान्धवगण तो लकड़ी और पत्थर के समान मृत शरीर को छोड़ कर घर लौट आते हैं। परन्तु केवल धर्म्म ही साथ जाता है।

"मृतं शरीर मुत्सृज्य काष्ठ लोष्ठ समं क्षितौ।
विमुखा बान्धवायान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥"

और भी

"एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥"

तात्पर्य यह है कि मनुष्य का केवल धर्म ही एक मित्र है, जो मरने पर भी अनुसरण करता है और सब पदार्थ शरीर के साथ नष्ट हो जाते हैं। केवल एक धर्म ही है जो मनुष्य को पशुपक्षियों से श्रेष्ठ बनाता है। क्योंकि आहार, निद्रा, भय और मैथुन सब जीवों में समान ही हैं। जो मनुष्य धर्म से हीन हैं वे पशु के समान हैं।

"आहारनिद्रा भय मैथुनञ्च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥"

यह धर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्ण तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारो आश्रमों के लिये भिन्न २ निर्दिष्ट है और सब आश्रमियों को उचित है कि अपने २ धर्म को धर्मशास्त्रानुसार समझ कर करें। इसी से ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कार्य सब सिद्ध होते हैं। इसी धर्म की रक्षा के लिये सर्व्वान्तर्यामी परमेश्वर ने अपने मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पैर से शूद्र को उत्पन्न किया है। यजुर्वेद-संहिता में स्पष्ट लिखा है :—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥"

सब वर्ण और आश्रमियों के लिये मनु जी ने दश साधारण धर्म लिखे हैं :—

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दश लक्षण को धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥"

अर्थात् १ धैर्य, २ क्षमा, ३ दम, ४ अस्तेय, ५ शौच, ६ इन्द्रियनिग्रह, ७ धी, ८ विद्या, ९ सत्य और १० अक्रोध। इन दशों धर्मों को बड़े यत्न से सेवना चाहिये। इन के साधन करने से अन्तःकरण निर्मल होता है और स्वधर्मा-

चरण में रुचि होती है। प्रथम धर्म धैर्य है, विपत्ति के समय में भी चित्त को क्षुभित नहीं होने देना और बिना शोक किये उपस्थित दुःख को सह लेना धर्य है, यह एक विलक्षण गुण है। इस संसार में कर्मानुसार सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख अवश्य ही प्राप्त होते रहते हैं। इस को नश्वर समझ कर मनुष्य को सदा सुख दुःख में समान रहना चाहिये।

"सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥"

किसी की उक्ति है—

"सुखस्य समये धीरः प्रायशोवीक्ष्यते क्षितौ।
आपत्ति समये धीरो धीर इत्युच्यते बुधैः॥"

अर्थात् इस पृथ्वी में सुख के समय बहुत धीर देखे जाते हैं, परन्तु वास्तविक धीर वही है जो दुःख के समय में भी धैर्य्य को धारण कर प्रसन्न रहता है। महाकवि कालिदास जी ने लिखा है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

अर्थात् विकार की सामग्री उपस्थित रहने पर भी जिस का चित्त विकृत नहीं होता वही धीर है। धैर्य्य धारण करने से किसी प्रकार दुःख नहीं हो सकता। आनन्द ही आनन्द रहता है।

श्री रामचन्द्र जी महाराज के धैर्य्य को देखिये कि जब श्री महाराजाधिराज दशरथजी ने यौवराज्य देने को बुलाया तब, और जब वन में जाने को कहा, तब, दोनों सुख और दुःख के समय, एक समान उन का मुख कमल विकसित रहा। दशरथ जी का वचन है—

"आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकार—विभ्रमः॥"

इसी प्रकार मनुष्य को उचित है कि सदा सुख और दुःख के समय समान रहे। धर्मावतार श्री युधिष्ठिर जी महाराज की ओर देखने से यह प्रत्यक्ष विदित होता है कि उन्हीं ने केवल धैर्य्य ही के बल से अपने दुःखमय वनवाससमय को सुख से काटा और अन्त में चक्रवर्ती राजा हुये। किसी कार्य में घबड़ाना कायर पुरुष का लक्षण है। सुख दुःख तो संसार के धर्म हैं। इस कारण सदा धैर्य्य धारण करना पुरुषार्थ है। राजा नल को भी अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़े थे। परन्तु उन्हीं ने भी केवल धैर्य ही के बल से सब को सानन्द सह्य किया। धैर्य की परीक्षा आपत्काल ही में होती है। गोसाईं तुलसी दास जी ने भी लिखा है :—

"धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत्काल परखिये चारी॥"

इसी का एक अङ्ग सन्तोष भी है। सन्तोषरूपी अमृत से

तृप्त और शान्त चित्तवाले मनुष्य को जो आनन्द मिलता है, वह धन के लोभ से इधर उधर दौड़नेवाले को नहीं मिल सकता।

"सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥"

योगसूत्र में श्री भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—"सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।" सन्तोष करने से सर्व्वोत्तम सुख का लाभ होता है। इस सन्तोषरूप अमूल्य रत्न को पाने के लिये तृष्णारूपी सर्पिणी को जीतना चाहिये, जिस की प्राप्ति से दुःख एकाएक निर्मूल हो जाय। द्वितीय धर्म्म क्षमा है। सामर्थ्य रहने पर भी दूसरे के अपराध को सह लेना और बदला नहीं लेना क्षमा है। मनुस्मृति में लिखा है :—

"अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥"

अर्थात् दूसरे की कही हुई कठोर बातों को सहना, किसी का अनादर नहीं करना और इस नश्वर शरीर का आश्रय ले कर किसी से वैर नहीं करना चाहिये। क्षमा के विषय में श्री वेदव्यास जी ने महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है :—

"क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्।
क्षमा योगः क्षमा ज्ञानं क्षमा धर्मः क्षमा शमः॥"
"क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा।
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते॥

"द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमयायुक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥"

अर्थात् क्षमा ही सत्यवादियों का सत्य है, तपस्वियों का ब्रह्म है, योगियों का योग है, ज्ञानियों का ज्ञान है, क्षमा ही धर्म है और क्षमा ही शम है। क्षमा असमर्थों के लिये गुण है और समर्थों के लिये भूषण है। क्षमा एक वशीकरण मन्त्र है, उस से क्या नहीं सिद्ध हो सकता। संसार में क्षमा करनेवाले प्रभु और दान करनेवाले निर्धन मनुष्य ये दोनों स्वर्ग से भी बढ़ कर सुख पाते हैं। पाण्डुकुलनन्दन श्री युधिष्ठिर जी महाराज के साथ दुर्योधन ने चिरकाल पर्यन्त अनेक प्रकार के दुराचार किये ही, परन्तु धर्मावतार महाराज सदा क्षमा ही करते रहे, जिस का परिणाम बहुत ही उत्तम हुआ। एक समय वशिष्ठ जी और विश्वामित्र जी में बड़ा विरोध हुआ, उस का कारण यह था कि वशिष्ठ जी विश्वामित्र को ब्राह्मण नहीं कहते थे और उन्हीं पर सब ब्राह्मण निर्भर थे कि जब वह विश्वामित्र को ब्राह्मण कह दें तो सबों को स्वीकार है। विश्वामित्र जी ने बहुत कुछ उपाय किये, परन्तु वशिष्ठ जी उन्हें ब्राह्मण कहने को राजी नहीं हुए। निदान क्रोध में आ कर विश्वामित्र ने चाहा कि वशिष्ठ को मार डालें तो अच्छा होगा। यों विचार कर अर्द्धरात्रि के समय जब सब लोग सो गए तब विश्वामित्र चुपचाप से खड्ग लेकर वशिष्ठ जी की कुटी में पहुँच गये और ज्योंहीं खड्ग उठा कर

उन का शिर काटना चाहते थे त्योंहीं वशिष्ठ जी जाग पड़े और कहे कि आप मुझे मारना क्यों चाहते हैं ? विश्वामित्र ने कहा कि आप हम को ब्राह्मण नहीं कहते हैं, अतएव हम आप को मारना चाहते हैं। उस समय वसिष्ठ जी ने उन के अपराध को क्षमा कर के कहा कि आप अपने मन में विचार कर देखिये कि आप ऐसे अकार्य करने को उद्यत हैं और ब्राह्मण कहे जाने का दावा रखते हैं ! क्या ऐसा अकार्य करनेवाला कभी ब्राह्मण कहा जा सकता ? अभी ब्राह्मण कहाने के योग्य आप नहीं हुए हैं, क्षमा करना सीखिये तब ब्राह्मण कहे जाइयेगा। क्षमा ब्राह्मणों का स्वाभाविक गुण है—इस के विना ब्राह्मणत्व नहीं आता। इस प्रकार वसिष्ठ जी महाराज का वचन सुन कर विश्वामित्र जी बहुत लज्जित हुए और वसिष्ठ जी का क्षमा करना देख कर क्षमाशील होने के लिये पुनः तपस्या करने को वन में चले गये। फिर अन्त में जब बहुत कठिन तपस्या से अपने को पवित्र कर क्षमाशील हुए तब ब्राह्मणत्व के अधिकारी हुये। क्षमा हि परमो धर्मः। तृतीय धर्म दम है।—मनोनिग्रह को दम कहते हैं, जिस के द्वारा मनुष्य अपने मन को दुष्टभावना की चिन्ता करने से विषय-वासना की इच्छा रखने से और दुष्ट संकल्प करने से रोकता है। मन में पाप करने की चिन्ता करने पर यद्यपि उस चिन्तन के अनुसार कर्म नहीं किया जाय तथापि मनुष्य उस पाप का फल कुछ अवश्य पाता है। सब लोगों के मन में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की भावनायें रहती हैं, परन्तु

मन को अशुभ भावना से हटाकर शुभ में लगाना चाहिये। दम से तेज बढ़ता है, दम के समान कोई गुण संसार में नहीं है। इस के अभ्यास से मनुष्य पापरहित और बड़ा तेजस्वी होता है। महाभारत में लिखा है :—

"दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
दमोहि परमो लोके प्रशस्तः सर्व धर्मिणाम् ॥"

जो मनुष्य दम को नहीं धारण करता उस को सर्व्वदा दुःख होता है और नाना प्रकार के अनर्थ उपस्थित हो कर उस के चित्त में सुख के लेश को भी नहीं रहने देते हैं। जिस समय श्रीमान् अर्जुन को महादेव जी से अस्त्रलाभ हुआ उस समय देवराज इन्द्र दिव्यास्त्र सिखाने के लिये उन्हें स्वर्गलोक में ले गये। वहां सुधर्मा नामक देवसभा में उर्व्वसी नामक अप्सरा विद्यमान थी, उस की ओर अर्जुन ने देखा। यह देख देवराज ने उर्व्वसी में अर्जुन का प्रेम समझ कर उस (अप्सरा) को उन के पास भेजा। उर्व्वसी उस समय कामातुर हो कर अर्जुन के समीप गई और उस ने प्रार्थना की कि हे अनघ! तुम्हारे पिता की आज्ञानुसार तुम्हारी सेवा के लिये मैं उपस्थित हुई हूं। तुम्हारे गुणों से मेरा चित्त आकृष्ट हुआ है। बहुत दिनों से मेरा मनोरथ तुम को पति बनाने को था सो आज सफल हुआ। इस वचन को सुन कर अर्जुन ने कहा कि "हे शोभने तुम हमारी गुरुपत्नी के समान हो ; तुम को मैं कुन्ती और इन्द्राणी के

समान समझता हूं; इस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। मैं ने उस समय बड़े प्रेम से तुम को देखा था, इस का कारण यह था कि मुझे विदित हुआ था, कि कौरव वंश की माता तुम्ही हो, यह बात समझ कर मेरा चित्त अति प्रसन्न हुआ और तुम्हे गुरुभाव से मैं ने देखा। हे कल्याणि ! तुम मेरे वंश को बढ़ानेवाली गुरु हो, तुम मुझ को दूसरे भाव से मत देखो।" तब उर्व्वसी ने फिर भी आग्रह किया और कहा कि "हे वीर। तुम मुझे गुरुस्थान में मत स्थापित करो; पुरु के वंश में जितने उत्पन्न होते हैं वे सब पुण्य के बल से यहां आकर हम लोगों के साथ सुख का भोग करते हैं, मैं वेश्या हूं, मुझ में किसी प्रकार का दोष नहीं है।" इस प्रकार उस ने बहुत समझा बुझा कर प्रार्थना की, परन्तु जितेन्द्रिय अर्जुन ने कथमपि स्वीकार नहीं किया और यही उत्तर दिया कि—

"यथा कुन्ती च माद्री च शची चेह ममानघे।
तथा च वंश जननी त्वं हिमेऽद्य गरीयसी"

अर्थात् हे निष्पापे ! मेरे लिये जैसी कुन्ती, माद्री और इन्द्राणी हैं उसी प्रकार वंशवृद्धि करनेवाली तुम भी हो। अन्त में रुष्ट हो कर उर्व्वसी ने शाप दिया कि—हे अर्जुन ! मैं कामातुर हो कर प्रार्थना करती हूं और तुम मुझे स्वीकार नहीं करते हो, इस कारण तुम नपुंसक हो कर कुछ दिन स्त्रियों के मध्य रहोगे। इस प्रकार शाप देने पर भी अर्जुन ने अपने दम को नहीं छोड़ा और इसी दम के प्रभाव से वह

आप भी तेरहवें वर्ष में अज्ञात वास के समय अनुग्रह रूप हुआ। इस कारण मन को दमन करने के समान उत्तम कोई धर्म नहीं है, भगवद्गीता में अर्जुन के प्रति भगवान् का वाक्य है :—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभि जायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृति वभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥"

मन के द्वारा विषयों के ध्यान करनेवाले पुरुषों को उन में सङ्ग होता है, सङ्ग से काम की उत्पत्ति होती है, काम से क्रोध होता है, क्रोध से मोह जनमता है, मोह से स्मृति का विनाश होता है। इस कारण दम का अभ्यास अवश्य कर्त्तव्य है, नहीं करने से मनुष्य किसी कार्य के योग्य नहीं रहता है।

चतुर्थ धर्म अस्तेय है। अन्याय से किसी की कोई वस्तु नहीं लेने को अस्तेय कहते हैं। भगवान् पतञ्जलि ने योगसूत्र में लिखा है —

"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्व्वरत्नोपस्थानम् ।

अर्थात् जो लोग अस्तेय (चोरी नहीं करने) का अभ्यास करते हैं उन के पास सब रत्न स्वयं उपस्थित होते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि—

"न हर्त्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः ।"

दूसरे का धन नहीं लेना यह सनातन धर्म है। इसी का अभ्यास करने के लिये महात्माओं ने लिखा है—"परद्रव्येषु लोष्ठवत्" अर्थात् दूसरे के धन को ईंट पत्थर के समान तुच्छ समझना चाहिये।

पञ्चम धर्म शौच है, जिस का अर्थ शुद्धता है। शौच दो प्रकार का है—एक वाह्य, दूसरा आभ्यन्तर। वाह्य शौच वह है जो उचित मृत्तिका और जलादि से देह को शुद्ध करते हैं और अपने वर्णाश्रम धर्मानुसार नित्यकर्म, सन्ध्योपासनादि का आचरण करते हैं। मनु जी ने लिखा है—

"अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥"

अर्थात् जल से शरीर पवित्र होता है, सत्य बोलने से मन पवित्र होता है, विद्या और तपस्या से इन्द्रिय और कामात्मक मन पवित्र होते हैं और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है। सच्चिदानन्द परब्रह्म में जीवात्मा के समर्पण करने को आभ्यन्तर शौच कहते हैं।

"ब्रह्मण्यात्मार्पणं यत्तत् शौचमान्तरिकं स्मृतम्।"

वाह्य और आभ्यन्तर दोनों शौच आवश्यक हैं। वाह्य शौच कितना हूं करें परन्तु आभ्यन्तर शौच नहीं करने से आत्मा शुद्ध नहीं होता है। महाभारत के वनपर्व्व ८३ वें अध्याय में मुनियों ने महाराज युधिष्ठिर के प्रति कहा है—

"आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥"

अर्थात् हे पाण्डुपुत्र ! जिस का पवित्र तीर्थ संयम है, जिस में जल सत्य है, जिस का तट शील है और जिस में तरङ्गों की लहर दया है, ऐसी आत्मारूपी नदी में स्नान करो। केवल जल से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होता है। और भी लिखा है—

"अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे ।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्यमालम्ब्य शाश्वतम् ॥"
मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च ।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्नानं तत्वदर्शिनः ॥
"स्नातं तेन समस्त तीर्थ सलिले दत्ता च सर्वावनि
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च सम्पूजिताः ॥
संसाराच्चसमुद्धताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्य सौ ।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥"

अर्थात् जिस का मन ब्रह्म के विचार में क्षण भर भी स्थिरता को प्राप्त करे उसी पुरुष ने सब तीर्थों के जल में स्नान किया, उसी ने सम्पूर्ण पृथ्वी का दान दिया, उसी ने सहस्र यज्ञ किये, उसी ने समस्त देवों को पूजा, उसी ने अपने पितरों को तारा और वही त्रैलोक्य में पूजनीय है। वाह्य शौच के लिये मनु ने चार प्रकार का स्नान कहा है—१ अग्नि-स्नान, २ वारुणस्नान, ३ ब्राह्मस्नान और ४ वायव्यस्नान।

"आग्नेयं भस्मनास्नानं अवगाह्यंतु वारुणम् ।
आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥"

तात्पर्य यह है कि शरीर में भस्म लगाने से अग्निस्नान, जल में गोता लगाने से वारुणस्नान, आपोहिष्ठेत्यादि वैदिक मन्त्रद्वारा मार्जन करने से ब्राह्मस्नान और गौ के खुर से उत्थित धूलि शरीर पर पड़ने से वायव्य स्नान कहा जाता है। इस प्रकार मनुष्यों को उचित है कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों से शौच का अभ्यास करे। परन्तु सब स्नानों से बढ़ कर एक पुण्डरीकाक्ष स्नान है, जिस के स्मरण ही से दोनों प्रकार के शौच होते हैं—

" अपवित्रः पवित्रो वा सर्व्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥"

अर्थात् जो अपवित्र, या पवित्र अथवा किसी अवस्था में प्राप्त होने पर श्री पुण्डरीकाक्ष भगवान् को स्मरण करता है वह सर्व्वथा शुचि होता है। योगसूत्र में भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है कि शौच के अभ्यास से अपने अङ्गों में जुगुप्सा और दूसरों से असंसर्ग होता है। " शौचात्स्वाङ्गे जुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥" षष्ठ धर्म इन्द्रियनिग्रह है। नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं और वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं और इन का राजा ग्यारहवां इन्द्रिय मन है। इन सब इन्द्रियों को अपने आधीन करना इन्द्रियनिग्रह कहा जाता है। केवल

एक एक इन्द्रिय के अधीन होने से बड़ी २ आपत्तियां होती हैं और जो [मनुष्य] पांचों इन्द्रियों के अधीन होकर विषय के भोग में लगे हुये हैं उन के विषय में क्या कहना है। स्वच्छन्द जङ्गल में विहार करनेवाले मृग केवल कर्णेन्द्रिय के अधीन होकर व्याधों की मधुर तान और वंशी की ध्वनि सुनने को आते हैं और जाल में फंसकर विपन्न हो जाते हैं। मदान्ध हस्ती केवल त्वगिन्द्रिय के वशीभूत होकर हस्तिनी के स्पर्श के लोभ से हाथी बझानेवाले के फन्दे में पड़कर दुःख मय बन्धन को प्राप्त होते हैं। पतङ्ग सब कीड़े, केवल नेत्रेन्द्रिय को सुख देने वास्ते रूप के लोभ से दीप के समीप आते हैं और जल कर भस्म हो जाते हैं। भ्रमर केवल रस-नेन्द्रिय को तृप्त करने के लिये रस के लोभ से कमल के पुष्प पर बैठता है और शीघ्र तृप्त नहीं होकर उसे छोड़ नहीं सकता। सांयकाल होने पर कमल सम्पुटित हो जाता है तथापि वह उस कमल को काट कर निकलना नहीं चाहता और यही सोचता रहता है कि रात बीत जायगी, प्रातःकाल होगा, सूर्य उदय होंगे, और कमल का फूल विकसेगा तब तक मैं रसपान के द्वारा रसनेन्द्रिय को सुख दूं पश्चात् यहां से निकल जाऊंगा। इतने ही में एक मदान्ध हस्ती कमल के नालों को तोड़ता सानन्द विहार करता आया और उस कमल के फूल को अपने शुण्डादण्ड से उखाड़ मुख में डाल भोजन कर गया और बेचारा भ्रमर पञ्चत्व को प्राप्त हुआ।

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गजउज्जहार ॥"

इसी प्रकार मछली भी केवल घ्राणेन्द्रियके वशीभूत होकर गन्ध के लोभ से मछुओं के जाल में पड़ती है और मारी जाती है।

इन जीवों की तो यह दशा है तो फिर पांचों इन्द्रियों से पांचों विषयों को भोग करनेवाले लोग क्यों नहीं मारे जायंगे, वे सर्व्वदा सर्व्वथा नष्टप्राय ही हैं *। पञ्चेन्द्रिय मनुष्य की यदि एक भी इन्द्रिय प्रबल हुई तो उस की बुद्धि नष्ट हो जाती है।

"पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥"
"अर्थानामीश्वरो यस्तु इन्द्रियाणामनीश्वरः।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद्भ्रश्यते हि सः ॥"

जो (मनुष्य) धन का ईश्वर हो कर भी अपने इन्द्रियों को वश में नहीं करता वह इन्द्रियों के अनीश्वर होने के कारण ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है।

---

* यही बात गरुणपुराण में लिखी है :—
"कुरङ्ग मातङ्गपतङ्ग भृङ्ग मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥"

"यः पञ्चाभ्यन्तरान् शत्रूनविजित्य मनोभवान् ।
जिगीषतिरिपू नन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥"

जो मनुष्य अपने आभ्यन्तर पञ्च कर्मेन्द्रिय शत्रुओं को बिना जीते दूसरे २ शत्रुओं को जीतना चाहता है उस को शत्रु गण जीतते हैं।

"रथः शरीरं पुरुषस्य राजन् आत्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥"

हे राजन् जिस पुरुष का शरीर रथ है बुद्धि सारथि है और इन्द्रियां घोड़े हैं ऐसा दमशील सावधान निपुण पुरुष रथारोही के समान इन्द्रियाश्वद्वारा सुख से विचरण करता है। मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में लिखा है—

"इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥"

अर्थात् विद्वान् पुरुष को उचित है कि अपहारी विषयों की ओर जाते हुए इन्द्रियों के संयम में यत्न उसी प्रकार करे जैसे सारथी कुपथगामी घोड़ों के संयम करने में यत्न करता है।

"इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सं नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥"

इन्द्रियों के प्रसङ्ग से निस्सन्देह अनेक दोष प्राप्त होते हैं और उन्हीं को रोकने से सिद्धि होती है।

"इन्द्रियार्थेषु सर्व्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥"

इन्द्रिय के सब विषयों में कभी इच्छा कर के प्रवृत्त होना उचित नहीं है और इन में अति प्रसक्ति को मन से भी छोड़ देना चाहिये।

मनु जी ने जितेन्द्रिय का लक्षण लिखा है—

"श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥"

अर्थात् जो सुन कर, स्पर्श कर, देख कर, भोजन कर और सूंघ कर न तो प्रसन्न होता है और न ग्लानि को प्राप्त होता है वह जितेन्द्रिय है। जितेन्द्रियत्व विनय का कारण है, विनय से विशेष गुण प्राप्त होता है, उत्तम गुण होने से सब लोग प्रसन्न होते हैं और सब की प्रसन्नता से सम्पत्तियां मिलती हैं।

"जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवाहि सम्पदः ॥"

इन्द्रिय जब कभी विषयभोग की ओर झुके तो उस को रोकना चाहिये और विचार के बल से उस विषय की इच्छा को दूर करना चाहिये। इस प्रकार इन्द्रियों के रोकने से उन की प्रबलता जाती रहती है। उस में प्रवृत्त होना बहुत बुरा है, क्योंकि इन्द्रियों के विषयभोग में फंसे रहना पशु धर्म है, जो मनुष्यों के लिये बहुत अयोग्य है। मनुष्यों को शास्त्र-

रिक (मानसिक) आनन्द प्राप्ति की ओर मन लगाना चाहिये। जो आनन्द शास्त्रज्ञान और भगवद्भक्तिद्वारा प्राप्त होता है सो पशु को कथमपि प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उस को इस की प्राप्ति का साधन जो अन्तःकरण है सो नहीं है। अतएव जो मनुष्य विषयभोग में फंसे रहते हैं वे यथार्थ मनुष्य नहीं हैं, पशु के समान ही उन को समझना चाहिये। इन्द्रियनिग्रह से यह तात्पर्य नहीं है कि इन्द्रियों से कोई काम नहीं लिया जाय, परन्तु उन को ऐसा वश कर लेना चाहिये कि वे कभी किसी अनिष्ट विषय के भोगने में न लगें और सदा आवश्यक और उत्तम काम करने में लगी रहें। इसी को इन्द्रियनिग्रह कहते हैं।

सप्तम धर्म धी है। विचारशक्ति अथवा उत्तम बुद्धि के द्वारा शास्त्रादि तत्व ज्ञान को धी कहते हैं। जब तक धी नहीं होती तब तक मनुष्य आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता और अपने वर्णाश्रम धर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। मनु जी ने लिखा है कि—

"सर्व्वन्तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुति प्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥"

अर्थात् विद्वान् पुरुष को उचित है कि ज्ञानरूपी नेत्र से इन सबों को भली भांति देख-विचार कर वेद के प्रमाण से अपने धर्म के अनुसार कार्य करें। केवल बुद्धि ही से बुरे और भले का ज्ञान होता है। अतएव ऐहलौकिक तथा

पारलौकिक सब कार्य बुद्धि ही के द्वारा सिद्ध होते हैं। इस कारण बुद्धि को अच्छी बनाने की चेष्टा सदा करनी चाहिये। उत्तम बुद्धि ही को धी कहते हैं। नवम धर्म सत्य है। यथार्थ भाषण को सत्य कहते हैं। सत्य से बढ़ कर कोई धर्म या पुण्य नहीं है और झूठ से बढ़ कर कोई पाप नहीं है यह वेद शास्त्र का सिद्धान्त है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी मानसरामायण में लिखा है—

"नहिं असत्य सम पातक पुंजा।
गिरि सम होइ कि कोटिक गुंजा॥
धर्म न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुराण बखाना॥"

उपनिषद् में लिखा है—

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभि वदति॥"

जो असत्य भाषण करता है, वह समूल और सम्पूर्णरूप से नष्ट होता है। मनु जी ने भी कहा है कि—

"वाच्यर्था नियताः सर्व्वे वाङ्मूला वाग्विनिस्सृताः।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्व्वस्तेयकृन्नरः॥"

अर्थात् सब अर्थ शब्दों ही में नियत हैं और शब्दों का मूल वचन है, क्योंकि शब्दों ही से सब बातें जानी जाती हैं। इस कारण जो उस वाणी को चुराता है अर्थात् झूठ बोलता है, वह सब भांति चोरी करनेवाला होता है, या उसे सब

वस्तु की चोरी करने का दोष होता है। महाभारत के शान्ति पर्व—अध्याय १६२ में लिखा है—

"अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
तुलतित्वा तु पश्यामि सत्यमेवातिरिच्यते ॥"

सहस्र अश्वमेध यज्ञ को तराजू की एक ओर और सत्य को दूसरी ओर रख के तौलने से मालूम हुआ कि सत्य ही का पलरा भारी होता है। भीष्मपितामह ने कहा है कि तीनों लोक का राज्य अथवा देवलोक का राज्य भी छोड़ सकता हूं, परन्तु सत्य को कदापि नहीं छोड़ सकता हूं। सत्य ही धर्म, तपस्या, योग और परब्रह्म स्वरूप है, सब कुछ सत्य ही में स्थित है। सत्य ही से सूर्य प्रकाश करते हैं, चन्द्रमा बढ़ते हैं, सत्य ही से अमृत की उत्पत्ति है इस लिये सब कुछ सत्य ही है। सत्य के आकार महाभारत में १६ प्रकार के लिखे हैं :—

" सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकाराश्चतुर्दश ॥"

भगवान् पतञ्जलि ने योगसूत्र में लिखा है :—

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयित्वम् ।"

अर्थात् जो सत्य का अभ्यास करता है उस के सब कार्य

सफल होते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्यवादी जो कुछ कहता है वह अवश्य ही सिद्ध होता है। महाभारत में लिखा है कि सत्य के गुणों को कह कर कोई पार नहीं पा सकता, अतएव ब्राह्मण, पितर और देवगण सत्य की प्रशंसा करते हैं :—

"नान्तः शक्यो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य भारत।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः स पतृदेवताः ॥"
"नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ॥"

तीनों लोक में सत्य से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़ कर कोई पाप नहीं है, अतएव सज्जन लोग अपने प्राणव्यय कर के भी सत्य की रक्षा करते हैं।

"नहि सत्यात्परो धर्म स्त्रिपु लोकेषु विद्यते।
जीवितेनाप्यतः सत्यं भुवि रक्षन्ति साधवः ॥"

सत्यता का माहात्म्य राजा हरिश्चन्द्र जी की जीवनचरित्र से विदित होता है। उन को यह दृढ़ प्रतिज्ञा थी :—

"चन्द टरे सूरज टरे, टरे जगतब्योहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द के, टरे न सत्यविचार ॥"

अपने सत्य की रक्षा के लिये उन को स्त्री और पुत्र को वेचना पड़ा और स्वयं चाण्डाल के यहां दास हो कर श्मशान पर रात दिन चौकी देनी पड़ी। यहां तक उन्हों ने अपने सत्य को निवाहा कि जब उन की स्त्री शैव्या उन के मरे हुए पुत्र

रोहिताश्व को लेकर श्मशानस्थान में आई तो बिना कर लिये दाह करने नहीं दिया। महारानी शैव्या के पास कुछ भी नहीं था, केवल एक वही वस्त्र था जिसे वह पहिने हुई थी। जब कर देने के लिये वह अपने वस्त्र को फाड़ने लगी बस उसी समय श्री भगवान् सब देवों के साथ प्रत्यक्ष हुए, स्वर्ग लोक से विमान आया उस पर राजा हरिश्चन्द्र जी महारानी और चाण्डाल प्रभृति के सहित स्वर्ग में चले गये। यह सत्य का प्रत्यक्ष फल है। महाभारत में लिखा है :—

"सत्ये नैकेन यान् लोकान् यान्ति सत्यव्रता नरा:।
न यान्तिताननृतिका इष्ट्वा क्रतुशतैरपि ॥"

अर्थात् एक सत्य के बल से सत्यशील लोग जिन लोकों को प्राप्त करते हैं, वहां झूठे मनुष्य सैकड़ों यज्ञ करने पर भी जाने के योग्य नहीं होते हैं। "सत्य मेव जयति नानृतम् ॥" सत्य ही की जय है झूठ का नहीं। अतएव सब को सदा सत्यधर्म की रक्षा कर्त्तव्य है। दशम धर्म "अक्रोध" है। मङ्गल चाहनेवाले पुरुषों को सब उपायों से क्रोध को दूर करना चाहिये, क्योंकि क्रोध मङ्गल को रोकनेवाला और दुःख को देनेवाला है, क्रोध बुद्धि और विचार को नष्ट कर देता है और इस के अधीन हो कर मनुष्य अकार्य कर डालते हैं; अतएव क्रोध अधर्म का मूल है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन! काम, क्रोध और लोभ ये

तीनों जीवात्मा के नाश करनेवाले नरक के द्वार हैं, इस कारण इन को छोड़ना चाहिये—

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥"

महाभारत के वन पर्व में द्रौपदी के प्रति महाराज युधिष्ठिर ने कहा है :—

"क्रोधोहन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः ।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ॥
योहि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने ।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे ॥
तस्याभवाय भवति क्रोधः परमदारुणः ।
क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ॥
तत्कथंमादृशः क्रोधमोत्सृजेल्लोक नाशनम् ।
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि ॥
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ।
वाच्यावाच्यौ हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद्यमसादनम् ॥
एतान् दोषान् प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः ।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चामुत्र चोत्तमम् ॥"

अर्थात् हे महाप्राज्ञे द्रौपदी ! क्रोध मनुष्यों का नाश करनेवाला है और क्रोध ही इस दुःखमय संसार में जन्म

मरण का मूल है। जो क्रोध को रोकता है उस का मङ्गल होता है और जो उसे नहीं रोकता उस का अमङ्गल होता है। प्रजाओं के विनाश का मूल क्रोध ही है, तो मेरे समान लोग लोकनाशक क्रोध को क्यों नहीं छोड़ें। क्रोधी मनुष्य अनेक पाप करता है अपने गुरु को भी मार सकता है और स्वयं कठोर वचनों से सदा दुःख भोगता है। क्रोधी मनुष्य को कार्याकार्य का विचार कुछ भी नहीं होता और क्या बोलना चाहिये क्या नहीं इस का भी बोध नहीं होता है। वह अपने को भी यमलोक में भेजता है। इन्हीं सब दोषों को देख कर बुद्धिमानों ने क्रोध को जीता है। इस के जीतने ही से इस लोक में आनन्द मङ्गल और परलोक में परमानन्द मिलता है। इसलिये क्रोध को छोड़ना परम धर्म है। सब लोगों को ये पूर्वोक्त दशो धर्म धारणीय हैं।

वर्णाश्रम धर्म्म ।

श्री मद्भगवद्गीता में श्री कृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा है कि हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के स्वभावानुसार भिन्न २ धर्म निर्दिष्ट हैं।

"शमो दमस्तपः शौचः क्षान्तिरार्जव मेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥"

शम (इन्द्रियनिग्रह), दम (मनोनिग्रह), तप (तपस्या), शौच, (पवित्रता), क्षान्ति (क्षमा), आर्जव (कोमलता वा सरलता), ज्ञान (शास्त्रज्ञान), विज्ञान (अनुभव) और आस्तिकता ये नौ ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म्म हैं। बड़े भाग्य से मनुष्य का शरीर मिलता है, उस में भी ब्राह्मण के कुल में जन्म तो बड़ा उग्र पुण्य का प्रभाव है, अतएव ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र कार्य करने के लिये नहीं है, परन्तु कठिन तपस्या करने के लिये और तदनन्तर अनन्त सुख भोग करने के लिये है।

"ब्राह्मणस्य शरीरं हि क्षुद्र कामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥"

मनुस्मृति में लिखा है :—

"उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
सहि धर्मार्थमुत्पन्नोः ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥"

"यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि पितरश्चैव किम्भूतमधिकन्ततः ॥"

अर्थात् ब्राह्मण की उत्पत्ति साक्षात् धर्म की मूर्त्ति ही है, क्योंकि वह (ब्राह्मण) धर्म की रक्षा के लिये उत्पन्न होता है और अन्त में ब्रह्मानन्द लाभ करता है, जिस के मुख के द्वारा देवगण हव्य भोजन करते हैं और पितृगण कव्य ग्रहण करते हैं, उस से अधिक और क्या होगा। ब्राह्मण षट्कर्मा कहे जाते हैं, अर्थात् पढ़ना, पढ़ाना ; यज्ञ करना, यज्ञ कराना; दान देना और दान लेना, इन छः कर्मों के करनेवाले ब्राह्मण को विप्र कहते हैं—

"पठनं पाठनं चैव यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चापि षट्कर्मा विप्र उच्यते ॥"

महाभारत में लिखा है :—

"दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥"

अर्थात् ब्राह्मणों के लिये दम, (मनोनिग्रह) और स्वाध्यायाभ्यसन (वेदपाठ) ये ही दोनों पुरातन धर्म हैं, इन्हीं में सब ब्राह्म-धर्म आ जाते हैं।

क्षत्रियों के लिये श्री कृष्णचन्द्र जी ने भगवद्गीता में सात प्रकार के स्वाभाविक धर्म कहे हैं :—

"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥"

शूरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से नहीं भागना, दान करना प्रभुता ये सात क्षत्रियों के स्वाभाविक कार्य हैं। कई-एक धर्मशास्त्राचार्यों ने क्षत्रिय के पांच कर्म अर्थात् पठन, पाठन, यजन, याजन, और दान कहे हैं और किसी २ ने केवल तीन अर्थात् पठन, यजन और दान ही कहे हैं। सब कार्यों से बढ़ कर क्षत्रियों के लिये न्याय से संग्राम कर के शत्रुओं का विजय करना और प्रजाओं को पुत्र के समान पालन करना धर्म है। महाभारत में लिखा है—

"क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
दद्याद्राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत्॥
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात्पराक्रमम्॥"

अर्थात् क्षत्रियों को दान देना परन्तु दान लेना नहीं, वेद पढ़ना किन्तु पढ़ाना नहीं, यज्ञ करना लेकिन यज्ञ कराना नहीं चाहिये। सदा प्रजाओं की रक्षा करना, चोर डाकुओं को शमन करने के लिये उन का यथेष्ट दण्ड करना और युद्ध में पराक्रम दिखलाना उचित है। महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीय काव्य में लिखा है, "सक्षत्रियः त्राण-सहः सतां यः" अर्थात् जो क्षत्रिय सज्जनों की रक्षा करने में समर्थ है, वही वास्तविक क्षत्रिय है। कवि कालिदास ने रघुवंश काव्य में इसी अर्थ को पुष्ट किया है—

"क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरूपक्रोशमलीमसैर्वा ॥"

राजा दिलीप का वचन सिंह के प्रति है कि जो हिंसा से रक्षा करता है सो क्षत्र है। यह क्षत्रियवाचक क्षत्र शब्द लोकों में प्रसिद्ध है, उस से विपरीत वृत्ति क्षत्रिय को राज्य से या निन्दित प्राण से क्या प्रयोजन है। जो क्षत्रिय होकर हिंसा से प्रजा की रक्षा नहीं करता वह केवल नाम मात्र ही का क्षत्रिय है, अर्थात् उस का क्षत्रिय कुल में जन्म व्यर्थ ही समझना चाहिये। क्षत्रियों की उत्पत्ति सब वर्ण तथा धर्म की रक्षा के लिये हुई है। वैश्यों के धर्म महाभारत में लिखे हैं—

"वैश्यस्यापिहि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसञ्चयः ॥
पितृवत्पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह ।
विकर्म तद्भवेदन्यत् कर्म यत्स समाचरेत् ॥"

अर्थात् अध्ययन, उत्तम रीति से धनसञ्चय, पिता के समान पशुओं का पालन, यज्ञ और दान ये ही पांच वैश्यों के मुख्य धर्म हैं, इन से अन्य गौण कार्य है।

श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है कि हे अर्जुन! शूद्रों का स्वाभाविक धर्म केवल द्विजातियों की सेवा मात्र है—

"परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥"

महाभारत में शूद्रधर्म के विषय में लिखा है—

"प्रजपतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ।
तस्मात् शूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते॥
तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत्सुखमवाप्नुयात् ।
शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन्वर्णाननुपूर्व्वशः ॥
सञ्चयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथञ्चन ॥"

अर्थात् ब्रह्मा ने शूद्र को द्विजातिवर्णों का दास बनाया इस कारण द्विजातियों की सेवा ही शूद्र का धर्म है। अतएव शूद्रों को उचित है कि वे सदा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा किया करें और विशेष धनसञ्चय की इच्छा नहीं करें।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उचित है कि वे आपस में परस्पर मेल रक्खें और अपने २ कार्य्य करें। ये चारो एक ही सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर के पुत्र हैं। जैसे पिता अपने पुत्रों को आज्ञाविरुद्ध कार्य करते देख रुष्ट होता है और दण्ड देता है उसी प्रकार जगत्पिता परमेश्वर भी जब बड़े पुत्र का कार्य छोटे को करते देखते वा मझिले के कार्य्य को सझले को करते देखते तो रुष्ट हो कर कठिन दण्ड देते हैं। अतएव परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये सब वर्णों को अपने ही अपने वर्णानुसार कार्य्य करना चाहिये। यह नहीं समझना चाहिये कि ब्राह्मण के कार्य उत्तम और शूद्रों के नीच हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण के कार्य ब्राह्मणों के लिये

उत्तम और ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख देनेवाले हैं, उसी प्रकार शूद्रों के भी कर्म उन्हीं के लिये उत्तम और सर्वथा आनन्ददायक हैं। चारो वर्ण एक ही विराट्स्वरूप परमेश्वर के देह हैं। ब्राह्मण मुख, चत्रिय बाहु, वैश्य जंघा और शूद्र चरण है। यदि किसी एक अङ्ग में भी विकार होता है तो सब अङ्ग तथा अङ्गी को पीड़ा होती है। क्या यदि हमलोगों के शिर में वेदना होती है या पैर ही में पीड़ा होती है तो मुख, बाहु और जंघा में कष्ट नहीं मालूम पड़ता? अवश्य ही सब अङ्ग तथा अङ्गी एक अङ्ग के अस्वस्थ होने से अस्वस्थ हो जाते हैं। एक लौकिक कथा प्रसिद्ध है कि एक समय हाथ और पैरों ने विचार कर के निश्चय किया कि भाई! हमलोग चल फिर कर के कमाते हैं सो हमलोगों को तो उस का कुछ भी फल नहीं मिलता, सब उपार्जित फल मुख को और उदर को मिलता है, इस कारण आज से हमलोग सब अपने काम छोड़ दें और देखें कि किस प्रकार उदर की पूर्त्ति होती है। सबों ने स्वीकार कर के ऐसा ही किया।

अनन्तर एक दो दिन तक तो किसी प्रकार चला, परन्तु फिर भोजन नहीं मिलने से हाथ और पैर का बल बिलकुल कम हो गया और सम्पूर्ण शरीर सूख कर केवल अस्थिमात्रावशेष रह गया। यहां तक कि हाथ पैर सूत के समान पतले पड़ गये और अब तब की दशा हुई। अब अपना दोष देख पड़ा और अन्त में स्थिर किया गया कि अपने २ कार्य्य नहीं करने से ऐसा दुःख हुआ है। आज से हमलोग

सब पूर्व्ववत् अपना कार्य्य किया करें। ऐसा निश्चय कर सबों ने अपना २ कार्य्य करना आरम्भ किया और फिर थोड़े ही समय में सबों का बल भोजन मिलने से ज्यों का त्यों हो गया। इसी प्रकार आपस में लड़ झगड़ कर सब वर्णों को अपने २ कार्य्य छोड़ने से उन्हें बड़ा कष्ट होता है। इस लोक का भी कुछ सुख नहीं मिलता, पारलौकिक सुख तो ऐसे अनुचित आचार विचार और व्यवहार करने वालों के भाग्य में हो ही नहीं सकता।

यह सनातन धर्म बहुत प्राचीन है, इस पर सदा कई प्रकार की आपत्तियां आती हैं, परन्तु श्री भगवान् की कृपा से इस धर्म की सदैव रक्षा होती है। अनेक मतवालों ने आधुनिक कई मतों को फैला कर सनातन धर्मावलम्बियों को फंसाना चाहा है, परन्तु जिस ने इस का रस पान किया है उस का चित्त कभी विकृत नहीं हो सकता। जो लोग अपने धर्म का मर्म भलीभांति नहीं जानते वे ही दूसरों के भुलावे में पड़ कर अपना धर्म छोड़ते हैं और पश्चात्ताप करते हैं, परन्तु जो लोग पक्के शिक्षित हैं वे चतुर मनुष्य कदापि उन वञ्चकों की वञ्चना में नहीं पड़ते हैं। श्री कृष्ण भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है कि हे अर्जुन अपने २ वर्णानुसार कार्य करने ही से मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। अपना धर्म दूषित भी हो तौभी दूसरे के धर्म से अच्छा है। जो फल ब्राह्मण को बड़े कष्ट से इन्द्रिय निग्रह पूर्व्वक शम दमादि के अभ्यास के साथ योगानुष्ठान और कठिन तपस्याओं के करने

से प्राप्त होता है सो सब शूद्रों को केवल द्विजातियों की सेवा ही से मिलता है।

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्॥"

(भगवद्गीता)

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये द्विज कहे जाते हैं। इन के सब संस्कार गर्भाधान से ले कर मरण पर्य्यन्त वेदोक्त मन्त्रों के द्वारा होते हैं।

जन्म से पूर्व्व तीन संस्कार, (१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्त कर्म) किये जाते हैं। गर्भाधान से तृतीय अथवा चतुर्थ मास से पुंसवन और षष्ट अथवा अष्टम मास से सीमन्तोन्नयन कर्म करना चाहिये। बहुत से शिष्ट लोग सीमन्त के साथ ही पुंसवन कर्म भी करते हैं—

"सीमन्तोन्नयन न स्योक्त तिथिवासररात्रिषु।
पुंसवं कारयेद्विद्वान् सदैवैकदिनेऽथवा॥"

॥ इति नृसिंहः॥

जन्म के अनन्तर सात संस्कार होते हैं—जन्म होते ही ४ जात कर्म, ५ जन्म से ११-१२ वें दिन नामकरण, चौथे मास में ६ निष्कासन, षष्ठ मास में ७ अन्नप्राशन और तत्पश्चात् कुलाचारानुसार ८ मुण्डन होता है। इस के अनन्तर ९ उपनयन और १० विवाह संस्कार किये जाते हैं। ब्राह्मणों का उपनयन गर्भ से अथवा जन्म से अष्टम वर्ष में, क्षत्रियों का एकादश वर्ष में और वैश्यों का द्वादश वर्ष अथवा अपने २ कुलाचारानुसार करना चाहिये। मनु जी ने लिखा है :—

"गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञोगर्भात्तु द्वादशेविशः ॥"

गुरु शिष्य को यज्ञोपवीत दे कर गायत्री का उपदेश कर वेद पढ़ावें और शौचाचार सिखावें। शिष्य को उचित है कि स्वयं ब्रह्मचारी हो कर गुरु जी की आज्ञा से बुलाने पर पढ़ें, जो लाभ हो उसे गुरु को समर्पण करें और मन, वचन तथा कर्म से सदा गुरु की सेवा करें। ब्रह्म वेद को कहते हैं और वेद पढ़ने के लिये व्रत को भी ब्रह्म कहते हैं, उस व्रत को करनेवाला ब्रह्मचारी कहा जाता है। ब्रह्मचारी का धर्म है कि मधु, मांस, अञ्जन, उच्छिष्ट भोजन, कठोर वचन, स्त्रीसङ्ग, जीवहिंसा, उदयास्त समय में सूर्य विलोकन, असत्य भाषण और परनिन्दा इत्यादि छोड़ देवे। जाबालदर्शनोपनिषद् में लिखा है :—

"कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां तु परिवर्जनम् ।
ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यन्तदुच्यते ॥"

शरीर से, वचन से और मन से स्त्रीसङ्ग की इच्छा नहीं करना ब्रह्मचर्य है। परन्तु गृहस्थ के लिये ऋतु काल में अपनी स्त्री से पुत्रार्थ सङ्ग करना भी ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रियों का निग्रह करना अर्थात् अविहित मैथुन नहीं करना है। मैथुन आठ प्रकार के दक्षसंहिता के सप्तम अध्याय में लिखे हैं :—

"स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्य भाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न कर्त्तव्यं कदाचन॥
एतै स्सर्व्वैस्सुसम्पन्नो यतिर्भवति नेतरः॥"

अर्थात् स्त्री सम्बन्धी कुत्सित व्यापार की चिन्ता, आसक्ति से सुनना अथवा कहना, स्त्री के साथ दुष्टभावों से हँसी खेल करना, स्त्री को दुष्टभाव से देखना, गुप्त बात करना, प्रसङ्ग की इच्छा करना, उस के निमित्त यत्न करना और सम्भोग करना—ये ८ प्रकार के मैथुन पण्डित लोग कहते हैं। इस कारण परस्त्री के विषय में न कुछ ध्यान देना, न बात करना चाहिये और न अविहितमैथुनादि करना चाहिये। इन सबों को नहीं करने से मनुष्य यति होता है।

गृहस्थ का धर्म ।

वेदव्रत समाप्त होने पर गुरु को दक्षिणा दे कर, उन की आज्ञा से स्नान करना चाहिये और पूर्व्वोक्त ब्रह्मचर्य की रक्षा-पूर्व्वक गुणवती कन्या का पाणिग्रहण करना चाहिये, जो असपिण्ड, यवीयसी, अरोगिणी और भ्रातृमती हो। पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र प्रभृति सन्तान से स्वर्गलोक मिलता है, इस लिये सन्तानार्थ सती स्त्री की रक्षा तथा सेवन करना अत्यावश्यक है।

जो स्त्री पति के जीते रहते या मरने पर अन्य पुरुष के समीप नहीं जाती है, वह इस लोक में कीर्त्ति पाती है और परलोक में पार्वती के साथ आनन्द करती है। पति की आज्ञा मानना स्त्रियों का परम धर्म है। यदि पति महा पातक से दूषित हो तो भी उस की शुद्धि की प्रतीक्षा करनी चाहिये। जो स्त्री पति के प्रिय कार्य में तत्पर, शुद्धाचार तथा जितेन्द्रिय होती है वह इस लोक में कीर्त्तिमती हो कर परलोक में अत्युत्तम गति को पाती है। गृहस्थ को विवाहाग्नि या दायकालाग्नि में स्मार्त्त कर्म और वैतानिकाग्नि में श्रौत कर्म करना चाहिये। द्विजातियों को ब्राह्म मुहूर्त्त में ईश्वर का नाम स्मरण कर के आवश्यक कार्यों की चिन्ता कर शरीर शुद्धिपूर्व्वक दन्तधावन स्नानादि कर के प्रातः सन्ध्यावन्दन करना चाहिये, अनन्तर योग क्षेम के लिये निर्वाहार्थ श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाना चाहिये और मध्याह्न में स्नानादि कृत्य

कर देवों का पूजन तथा पितरों का तर्पण करना चाहिये। तदनन्तर यथाशक्ति वेदपुराणादि का पाठ करना चाहिये। इस संसार में सब आश्रमों का राजा गृहस्थाश्रम है, क्योंकि जितने अन्य आश्रमवाले हैं सो सब गृहस्थ ही का आश्रय लेते हैं। गृहस्थ ही के प्रभाव से भोजन पाते हैं और प्रसन्न रहते हैं, यदि गृहस्थाश्रम न रहे तो और सब आश्रमवाले निराधार हो कर नहीं रह सकेंगे। गृहस्थों के लिये पञ्च महायज्ञ अवश्य कर्त्तव्य है। जो गृहस्थाश्रम में रह कर अज्ञानतावश पञ्च महायज्ञों को नहीं करता उस को धर्मानुसार न इस लोक में और न परलोक में सुख मिलता है। लिखा है:—

"पञ्चयज्ञाँस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमे ।
तस्य नायं न च परोलोको भवति धर्मतः ॥"

पञ्च महायज्ञ ये हैं :—

"पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः ।
एते पञ्च महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादि नामकाः ॥"

अर्थात् वेद और धर्मशास्त्रादि ग्रन्थों का पढ़ना, विचारना, उन के उपदेशानुसार आचरण करना, दूसरों को पढ़ाना, उन के विषयों का प्रचार करना और सन्ध्यावन्दनादि द्वारा गायत्री की उपासना करना ब्रह्मयज्ञ है। होमादि कर्मों का करना देवयज्ञ है। तर्पणादि करना पितृयज्ञ है। घर में आये हुये अतिथियों का भोजनादि सत्कार करना मनुष्ययज्ञ है।

पशुपक्षियों को भोजन के लिये अन्न देना भूतयज्ञ है। इन पांचों में ब्रह्मयज्ञ सब से श्रेष्ठ है और चारो आश्रम वालों के लिये अवश्य कर्तव्य है। गृहस्थों को अतिथि, सेवा अत्यावश्यक करना चाहिये। बृहन्नारदीय पुराण के २५ वें अध्याय में लिखा है :—

"वालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः।
तस्य पूजा विधातव्या सर्व्वत्राभ्यागतो गुरुः॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रति निवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति॥"

घर में आया हुआ अतिथि बालक हो, वृद्ध या युवा हो वह सर्व्वथा गुरु के समान पूजनीय है। अतिथि जिस के घर से निराश हो कर लौटता है वह उस को पाप देकर और पुण्य लेकर चला जाता है। और भी लिखा है—

"गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्व्वत्राभ्यागतो गुरुः॥"

मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में लिखा है :—

"नवै स्वयं तदश्नीयात् अतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यञ्चातिथिपूजनम्॥
देवान् ऋषीन्मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत्॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्म कारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते॥"

अर्थात् गृहस्थ अतिथि को जो वस्तु नहीं खिलावे उसे आप भी नहीं खाय, अतिथि का पूजन धन, यश, आयुर्बल, स्वर्ग को देनेवाला है। गृहस्थ को प्रथम देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और घर के देवों को अन्नादि से पूजन कर के पश्चात् उन से बचे हुए अन्न को भोजन करना चाहिये। जो मनुष्य केवल अपने पेट भरने के लिये अन्न पकाता है वह केवल पाप ही भोजन करता है। यज्ञ कर के बचा हुआ अन्न सज्जनों के लिये भोजन योग्य है।

चारो वर्णों में जो कोई अतिथि हो कर आवे उस को यथाशक्ति भोजनदान, वचन, स्थान, आसन और जल से भी सत्कार करना चाहिये। गृहस्थ के लिये सनातन धर्म लिखा है:—

"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥"

अर्थात् सत्य बोले, मधुर बोले और सत्य भी अप्रिय नहीं बोले, अर्थात् जिस में दूसरे को कठोर प्रतीत न हो, क्योंकि दूसरे के चित्त को दुखानेवाला सत्य भी दोषदायक होता है। जैसे कोई अधिक भोजन करनेवाले से कहे कि वाह आप तो डेढ़ सेर पर हाथ फेरते हैं, तो यद्यपि यह कहना सत्य है तथापि ऐसा सुन कर वह क्रुद्ध होगा। इस कारण यदि ऐसा कहा जाय कि महाशय! आप की पाचनशक्ति औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, तब उस को प्रतीत न हो कर अपनी

प्रशंसा प्रतीत होगी। सार यह है कि सत्य होने पर भी जो प्रिय प्रतीत हो उस वचन को बोले। ऐसा होते २ कदाचित् अप्रिय होने के भय से मनुष्य असत्य प्रियवचन बोलने लगे इस कारण मनु जी ने कहा है कि प्रिय होने पर भी जो असत्य हो उस वचन को कभी नहीं कहे यह सनातन धर्म है।

"धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत दद्यात्सदैवातिथीन्पूजयेच्च।
अनाददानश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत्पुराणी॥"

अर्थात् धर्म से अर्जित धन को पा कर यज्ञ करे, दान दे, और सदा अतिथियों का सत्कार करे। दूसरों से नहीं दिये हुए किसी वस्तु को नहीं ले यह गृहस्थों का परम धर्म है।

गृहस्थाश्रम के अनन्तर वानप्रस्थाश्रम है। जब गृहस्थ देखे कि शरीर का चमड़ा ढीला हुआ, केश पक गये और पुत्र के भी पुत्र उत्पन्न हुए तब पुत्र को गृह का भार दे कर उसे वन में बसना उचित है। कृषि आदि से उत्पन्न भोजन की सामग्री, गौ, घोड़ा, शय्या और वस्त्रादि छोड़ के भार्या को पुत्र के हाथ में सौंप कर अथवा साथ में ले कर वह वन में जावे। नीवार आदि पवित्र अन्न अथवा वन में उत्पन्न हुए शाक मूल फल से वहां प्रति दिन विधि पूर्वक पञ्च महायज्ञ करे। वानप्रस्थ को चाहिये कि सदा वेद पढ़ने में रत रहे, सर्दी गर्मी आदि क्लेशों को सहे, परोपकारी, संयत चित्त,

सदा दाता, प्रतिग्रह रहित और सब भूतों में दयाशील होवे, भूमि पर सोवे, वासस्थान में ममतारहित और वृक्ष के नीचे निवास करे, अर्थात् सुखकर विषयों में यत्नशील नहीं हो। ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्नि को सेवन करे, अर्थात् चारो ओर अग्नि प्रज्वलित कर ऊपर सूर्य का ताप सहता हुआ जप और ध्यान करे। वर्षाकाल में वृष्टि की धारा में खड़ा हो कर इष्टदेव का ध्यान करे और हेमन्त में जल के भीतर या भींगा वस्त्र पहन कर तपस्या करे। त्रिकाल स्नान कर के प्रति दिन पितरों और देवताओं का तर्पण करे और उग्र तपस्या कर के शरीर को सुखावे। महाभारत के आदि पर्व्व में लिखा है :—

"स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो दाता परेभ्यो न परोपतापी।
तादृङ् मुनिः सिद्धि मुपैति मुख्यां वसन्नरण्ये नियताहार चेष्टः॥"

इन महर्षियों के अनुष्ठेय मार्ग से शरीर त्यागने पर वानप्रस्थाश्रमी शोकभय रहित हो कर ब्रह्मलोक में पूजित होता है। इस के अनन्तर जीवन के चतुर्थभाग में संन्यासाश्रम है। क्रमशः आश्रम से आश्रमान्तर में जा कर अर्थात् ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ और वानप्रस्थ धर्म कर के उन आश्रमों में अग्निहोत्रादि समाप्त कर जितेन्द्रियत्व पा कर भिक्षादान या वलिदान से परिश्रान्त हो संन्यासाश्रम ग्रहण करनेवाला परलोक में परम अभ्युदय पाता है। विधि पूर्व्वक वेद पढ़ के धर्मानुसार पुत्र उत्पन्न कर यथाशक्ति दानादि दे कर देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण से मुक्त हो मोक्षसाधन के

वस्ते सन्यासाश्रम में मन लगाना चाहिये। काम्यविषय उपस्थित रहने पर भी उस में आसक्ति रहित और मौनावलम्बी हो कर पवित्र दण्ड और कमण्डलु साथ लेकर परिव्राजक धर्माचरण करे। सर्व्व सङ्गरहित होने से सिद्धि लाभ होता है, ऐसा समझ कर आत्मसिद्धि के लिये असहाय अवस्था में अकेले ही विचरण करे। सब विषयों से पराङ्मुख हो केवल आत्मसहाय से ही मोक्षार्थी हो कर इस संसार में विचरे और सदा ब्रह्म के ध्यान में तत्पर रहे। यह शरीर हड्डीरूपी स्तम्भ, रुधिर मांस से लिप्त, चमड़े से ढका हुआ, विष्टा मूत्र से पूरित, दुर्गन्धमय, जराशोक युक्त, अनेक व्याधियों का स्थान, पञ्चभूत से रचित और अनित्य है, इसे जान कर देह की ममता को परित्याग करे, जिस से पुनः दुःखप्रद इस देहरूपी कारागार में प्रविष्ट होना नहीं परे ऐसी चेष्टा करे। जैसे वृक्ष नदी के तट को और पक्षी वृक्ष को छोड़ देते हैं, वैसे ही ज्ञानवान् जीव प्राक्तन कर्म को शेष कर के संसारबन्धन से मुक्त हो जीवन्मुक्त अवस्था में विचरते हैं। वे ध्यान योग से अन्तर्यामी परमात्मा के सूक्ष्म रूप को सब शरीरों में देखते हैं। इसी प्रकार जो ब्राह्मण विधि पूर्व्वक संन्यासाश्रम का अवलम्बन करता है, वह सब पापों से रहित होकर परब्रह्म को पाता है। संन्यासाश्रम बहुत कठिन है, अतएव मनु आदि ऋषियों ने पूर्व्वोक्त चारो आश्रमों के बीच वेद और स्मृति के अनुसार चलनेवाले गृहस्थाश्रमी ही श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि वही तीनों आश्रमियों का

पालन पोषण करता है। जैसे सब नदी नद समुद्र में जा कर स्थित होते हैं, वैसे ही अन्य आश्रमवाले गृहस्थ की सहायता से निवास करते हैं। (मनुस्मृति अध्याय षष्ठ :—)

"सर्व्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथा शास्त्रं निषेविता: ।
यथोक्त कारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥
सर्व्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
यथोक्त कारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥
यथा नदीनदाः सर्व्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्व्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥"

वस्तुतः सब धर्मशास्त्रों का सिद्धान्त यही है कि चारो वर्ण और चारो आश्रमी अपने २ धर्म को यथाविधि करने से ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों को पाते हैं ।

स्त्रीधर्म।

स्त्रियों के लिये सब धर्मों से बढ़ कर पातिव्रत्य धर्म है, इस के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। इसी के बल से स्त्री अपने पितृकुल और श्वशुर कुल को उज्ज्वल करती हुई तारती है और ऐसे २ कार्यों को करती है जो नाना प्रकार के जप, पूजन और यज्ञादि के अनुष्ठानों से नहीं सिद्ध हो सकते हैं। महाभारत में सावित्री का इतिहास प्रसिद्ध ही है, उस को यहां संक्षेप में लिखा जाता है :—

मद्रदेश में चक्रवर्त्ती राजा के समस्त गुणों से पूर्ण, बड़े प्रतापी, वीर और धीर एक अश्वपति नामक राजा थे। वह राजनीति के अनुसार बहुत दिनों तक अपनी प्रजा को पुत्र के समान पालन करते २ वृद्धावस्था को प्राप्त हुए और उन को कोई सन्तति नहीं हुई। एक दिन राजा एकान्त में बैठे २ बहुत चिन्ता करने लगे, कि ईश्वर की कृपा से मुझे सब सुख हुए, परन्तु अभी तक सन्तान नहीं होने के कारण मैं पितृऋण से मुक्त नहीं हुआ। क्योंकि शास्त्रों में लिखा है :—

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।
येन केनाप्युपायेन पुत्रमुत्पादयेत्सुधीः॥"

अर्थात् अपुत्र की गति नहीं होती, उस को स्वर्ग नहीं मिलता, इस लिये किसी उपाय से बुद्धिमान् गृहस्थ को पुत्रोत्पादन करना चाहिये। ऐसा सोच विचार कर निश्चय

किया कि बिना देवपूजन कोई कार्य सिद्ध नहीं होता इस लिये वेदमाता सावित्री देवी का अनुष्ठान करना चाहिये। तदनन्तर महाराज शास्त्रोक्त विधि से सावित्री की पूजा, जप, ध्यान तथा होम बड़े नियम से करने लगे और अल्प भोजनादि द्वारा संयम से रहने लगे। इस प्रकार जब अट्ठारह वर्ष बीत गये, तब भगवती सावित्री देवी अग्निकुण्ड से प्रगट हो कर बोली कि हे राजन् अश्वपते। तुम से मैं प्रसन्न हूं, जो तुम्हारी अभिलाषा हो सो मुझ से वर मांगो। अमृत के समान सावित्री के इस मधुर वचन को सुन कर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले कि "हे मातः। यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे कुल के रक्षक पुत्रों को दीजिये।" इस प्रार्थना को सुन कर सावित्री ने उत्तर दिया कि हे राजन्। तुम्हारी इस अभिलाषा को समझ कर मैं ने पहले ही ब्रह्मा जी से कहा था तो उन्हों ने आज्ञा दी कि महाराज अश्वपति से कह दो कि, "तुम को बड़ी तेजस्विनी एक, कन्या होगी"; ऐसा कह कर सावित्री देवी अन्तर्ध्यान हो गई। तदनन्तर कुछ काल के बाद राजा अश्वपति की बड़ी रानी गर्भवती हुई और दशम मास में कन्या का जन्म हुआ। उसे देख राजा अश्वपति बहुत प्रसन्न हुए और सावित्री देवी की प्रसन्नता से उत्पन्न कन्या का नाम सावित्री ही रक्खा। वह कन्या मूर्त्तिमती लक्ष्मी के सदृश सुन्दरी प्रति दिन शुक्ल पक्ष की चन्द्रकला की समान बढ़ने लगी और युवावस्था को प्राप्त हुई। परन्तु उस के तेज को असह्य समझ कर कोई पुरुष उस के साथ विवाह

करने को प्रस्तुत नहीं हुआ। यह देख राजा ने सावित्री से कहा कि हे पुत्री! अब तुम्हारे विवाह का समय आया, सो तुम मन्त्रिगण तथा सत्वगणों के साथ स्वयं सर्व्वत्र पर्यटन कर के अपने अनुरूप पति को वरण करो। ऐसी आज्ञा दे कर अपने मन्त्री तथा कुलीन और प्रामाणिक भृत्यों को साथ जाने के लिये नियुक्त किया। राजा की आज्ञा पाते ही सावित्री मन्त्रियों के साथ सुवर्णरचित रथ पर सवार हो कर अनेक तपस्वियों के आश्रम तथा तीर्थस्थानों में घूमती २ अपने अनुरूप पति स्थिर कर पुनः पिता जी के पास आई और प्रणाम कर सामने खड़ी हुई। उस समय नारद जी भी राजा अश्वपति के समीप बैठे थे, उन्हों ने सावित्री को देख कर राजा से पूछा कि हे राजन्! अब इस कन्या की अवस्था विवाहयोग्य हुई सो क्यों नहीं विवाह कर देते हो। राजा ने उत्तर दिया कि करुणानिधान! इस को इसी कार्य के लिये भेजा था, सो यह अभी चली आ रही है। अनन्तर सावित्री की ओर संकेत (इशारा) कर के राजा ने पूछा कि तुम ने किस उत्तम वर को वरण किया? सावित्री ने कहा कि शाल्व देश में बड़े धार्मिक द्युमत्सेन नामक राजा राज करते थे, वह दैवात् इस समय नेत्रहीन हो गये हैं और शत्रुओं ने उन का राज्य छीन लिया है, इस कारण वह आज कल तपोवन में स्त्री के साथ तपस्या करते हैं, उन्हीं के पुत्र सत्यवान् नामक बड़े तेजस्वी और सब गुणों से पूर्ण मेरे योग्य पति हैं। उन्हीं को वरना मैं चाहती हूं। यह वचन

सुन कर राजा ने नारद जी से कहा कि, हे भगवन्! सत्य-वान् के गुण और दोषों को कृपा कर कहिये। नारद जी ने कहा कि उस में सब गुण हैं, वैसा गुणी वर मिलना बड़ा कठिन है, परन्तु उस में एक यही बड़ा भारी दोष है कि वह आज के वर्षवें दिन मर जायगा। यह सुन कर राजा ने सावित्री से कहा कि हे पुत्री! यह तो सत्यवान् में बड़ा भारी दोष है, इस कारण मेरी सम्मति उस से विवाह करने की नहीं हो सकती, तुम्हारी क्या राय है? पिता के उक्त वचन को सुन कर सावित्री ने कहा कि—

"सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।"

अर्थात् एक ही बार भाग निकलता है और एक ही बार कन्या दी जाती है। मैं तो उन्हें अपना पति बना चुकी अब और दूसरे को नहीं वरूंगी। यह सुन कर राजा बहुत घबरा गये, परन्तु नारद जी ने उन को समझा कर कहा कि, हे राजन्! इस को आप निवारण न करें, जो यह चाहती है सो कीजिये। इस प्रकार कह कर नारद जी चले गये। तदनन्तर सावित्री के आग्रह से महाराज अश्वपति विवाह की सब सामग्री एकत्रित कर के बड़े योग्य पुरोहित तथा ब्राह्मणों को साथ लेकर उत्तम मुहूर्त में पांवपैदल द्युमत्सेन के आश्रम पर गये। वहां शालवृक्ष की छाया में कुशासन पर बैठे हुए राजा द्युमत्सेन को यथाविधि पूजन कर के विनयपूर्व्वक अभ्यर्थन किया कि आप मेरी पुत्री को अपने चिरजीवी पुत्र सत्यवान् के साथ विवाह कर उसे अपनी

पुत्रवधू स्वीकार कीजिये। राजा द्युमत्सेन के स्वीकार करने पर अश्वपति महाराज ने वेदोक्तविधि से सत्यवान् के साथ सावित्री का विवाह कर दिया और नाना प्रकार के राजोचित वस्त्रादि, भूषण और वस्तुजात यौतुक (दहेज) में दिया। अनन्तर विवाहकृत्य समाप्त कर के राजा अश्वपति अपने राज्य को लौटे। इधर सावित्री सब राजोचित वस्त्र भूषणादि को उतार वानप्रस्थ के योग्य वल्कल ही को पहन कर अपने पति, सासु और श्वशुर की सेवा करने लगी। सावित्री नारद जी के कथनानुसार अपने पति के मरण दिन को प्रति दिन गिना करती थी। अनन्तर एक वर्ष पूर्ण होने के समय जब उस दिन को केवल चार ही दिन अवशेष रहे तो त्रिरात्र व्रत कर के चतुर्थ दिन अर्थात् मरण दिन को, हवन कर के देवता और ब्राह्मणों की पूजा कर और उन से अवैधव्य का आशीर्वाद लाभ कर सावित्री ने अपने पति के साथ कन्द, मूल, फल और काष्ठ लाने के लिये वन में जाने की इच्छा प्रगट की। पति ने कहा कि हे प्रिये! आज तक तुम कभी वन में नहीं गई हो, वन का मार्ग बड़ा दुर्गम है, तुम को बहुत दुःख होगा, इस लिये ऐसा साहस मत करो। यद्यपि सत्यवान् ने बहुत समझा बुझा कर मना किया तथापि सावित्री ने बहुत हठ किया और सासु श्वसुर की आज्ञा ले कर पति से भी आज्ञा लेली और साथ में हो कर जंगल की यात्रा की। अनन्तर कन्द, मूल, फल एकत्र कर के जब सत्यवान् लकड़ी काट रहे थे; उसी समय उन के शिर में

भयङ्कर पीड़ा हुई और नारद जी का बताया हुआ काल उपस्थित हुआ। उस समय बड़े दुःखी हो कर सत्यवान् सावित्री की गोद में शिर कर के सो रहे। इतने ही में लाल नेत्रवाले हाथ में दण्ड लिये हुए बड़े भयानक रूप एक पुरुष वहां उपस्थित हुए। उन्हें देख सावित्री हाथ जोड़ कर बोली कि, हे देवेश! आप कौन हैं! क्यों यहां आये हैं? और क्या चाहते हैं? उस पुरुष ने उत्तर दिया कि, हे सावित्री! तुम पतिव्रता हो, इस कारण तुम से कहता हूं— "मैं यमराज हूं, तुम्हारे पति सत्यवान् का आयुर्बल समाप्त हो गया उसे ले जाने के लिये आया हूं, पातिव्रत्य के प्रभाव से तुम्हारे हाथ से छोड़ा कर इसे ले जाने में मेरा कोई दूत समर्थ नहीं है, अतएव मैं स्वयं ले जाना चाहता हूँ।" ऐसा कह कर सत्यवान् के शरीर से अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष को बलात्कार से बाहर निकाला और पाश में बांध कर ले चले। सावित्री भी यमराज महाराज के पीछे २ चली। यह देख यमराज ने कहा कि, हे साध्वि! तुम लौटो और अपने पति का पारलौकिक कार्य करो, मुझे इस को ले जाने दो। इस कटुवचन को सुन कर सावित्री ने कहा कि, हे धर्मराज! जहां मेरे पति जाते हैं, वहीं मैं भी जाऊंगी, क्योंकि मैं पतिव्रता हूं, सदा पति के साथ रहना ही मेरा सनातन धर्म है, आप की कृपा से और गुरुजनों की शुश्रूषा के प्रभाव से मेरी गति कहीं नहीं रुकेगी, आप मेरे पति को जहां तक ले जाइयेगा वहां तक मैं निस्सन्देह पहुंचूंगी। परन्तु सज्जनों की मित्रता

साप्तपदीन कही जाती है, इस कारण मित्रभाव से जो कुछ मैं आप से कहती हूं सो कृपा कर सुन लीजिये :—

" नानात्मवन्त स्तु वने चरन्ति धर्मञ्च वा सञ्च परिश्रयञ्च।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरन्ति तस्मात्सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् "
एकस्य धर्मेण सतां मतेन सर्वेस्म तं मार्गमनु प्रपन्नाः।
मावै द्वितीयं मा तृतीयं च वांछेत् तस्मात्सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम्॥

अर्थात् वन में वास कर अजितेन्द्रिय लोग गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य और सन्यासाश्रम धर्म को नहीं पालन कर सकते हैं। विज्ञान लाभ के वास्ते ऋषियों ने गृहस्थाश्रम को प्रधान कहा है। इस कारण साधु मनुष्य गृहस्थाश्रम ही को श्रेष्ठ कहते हैं। एक गृहस्थाश्रम ही के द्वारा सब आश्रम भी अपने २ मार्ग को प्राप्त करते हैं, इसलिये न तो ब्रह्मचर्य और न संन्यास की इच्छा करनी चाहिये, अतएव महात्मा लोग गृहस्थाश्रम को प्रधान कहते हैं। इस उत्तम वचन को सुन कर धर्मराज प्रसन्न हुए और बोले कि हे सावित्रि! मैं प्रसन्न हूं, इसलिये सत्यवान् के जीवन के अतिरिक्त जो इच्छा हो सो वर मांगो। तब सावित्री ने अपने श्वसुर की आंखें (जो नष्ट हो गई थीं) मांगी। उसे यमराज ने स्वीकार किया। तदनन्तर फिर भी सावित्री बोली—

" सतां सकृत्सङ्गतमीप्सितं परं ततः परंमित्रमिति प्रचक्षते।
नचाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं ततः सतां सन्निवसेत्समागमे ॥ "

अर्थात् सज्जनों की सङ्गति एक वार अत्यन्त अभिलषित

है, अनन्तर मित्रता हो जाती है; सत्सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता अतएव सदा सत्सङ्ग करना चाहिये। यह सुन कर फिर भी यमराज ने कहा कि अपने पति के जीवन के अतिरिक्त जो इच्छा हो सो वर मांगो। तब सावित्री ने अपने श्वसुर का विनष्ट राज्य मांगा और यमराज को एवमस्तु कहने पर फिर कहना आरम्भ किया।—

" अद्रोहः सर्व्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥
एवं प्रायश्च लोकोऽयं मनुष्या भक्तियेशला:।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते॥ "

अर्थात् सब जीवों पर मन कर्म वचन और कर्म से द्रोह नहीं करना, कृपा और दान ये सज्जनों के सनातन धर्म हैं। प्रायः मेरे ही समान संसारी जीव सदा दुःखी रहते हैं और दुःख पड़ने पर देवताओं में भक्ति करते हैं। सन्त लोग तो अपनी शरण में प्राप्त दुःखाकुल शत्रुओं पर भी दया करते हैं। इस मधुर वचन को सुन कर यमराज ने फिर भी सत्यवान् के जीवन के विना और अभिलषित वर मांगने को कहा। तब सावित्री ने अपने पिता को १०० पुत्र होने की प्रार्थना की और यमराज के तथास्तु कहने पर फिर बोली।—

" आत्मन्यपि न विश्वासः तथा भवति सत्सुयः।
तस्मात्सत्सु विशेषेण, सर्वःप्रणय सिच्छति॥ "

अर्थात् सज्जनों में जैसा विश्वास होता है वैसा विश्वास

अपने में भी नहीं होता, इसी कारण सब लोग विशेष कर के सज्जनों में प्रेम करना चाहते हैं। यह सुन कर फिर भी सत्यवान् के जीवन के विना और वर मांगने को कहा। तव सावित्री ने कहा कि हे भगवन्! आप के प्रसाद से सत्यवान् के द्वारा मेरे सौ पुत्र हों यही मुझे वर दीजिये और कृपा कर फिर भी मेरी बात सुन लीजिये।—

"सतां सदा शाश्वत धर्मवृत्तिः सन्तो न सीदन्ति नच व्यथन्ते॥
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति सद्भ्योभयं नानुवर्त्तन्ति सन्तः॥
सन्तोहि सत्येन नयन्ति सूर्यं सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तोगति र्भूतभव्यस्य राजन् सतांमध्ये नावसीदन्ति सन्तः॥"

अर्थात् सज्जनों की वृत्ति सदा धर्माचरण में रहती है, उन को कभी किसी प्रकार दुःख और पीड़ा नहीं होती, सज्जनों का सज्जनों के साथ सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता और सज्जनों को सज्जनों से भय कभी नहीं होता। सन्त लोग अपने सत्य के बल से सूर्य को चलाते हैं और पृथ्वी को धारण करते हैं। भूत भविष्य सब की गति सन्त ही हैं। सन्तों के मध्य में सन्त लोग कदापि दुःख नहीं पाते हैं। यह सुनकर यमराज अति प्रसन्न हो कर पुनः बोले कि हे पतिव्रते! तुम से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूं, अब तुम्हारी जो इच्छा हो सो वर मांगो। तव सावित्री ने कहा कि हे प्रभो! पति के विना हमें कुछ भी सुख नहीं हैं, उन के विना स्वर्ग भी भी हमारे लिये व्यर्थ है इसलिये मैं यही वर मांगती हूं

कि जिस में मेरे पति जीवित हों सो कीजिये और ऐसे करने से आप ही का वचन सत्य होगा। तदनन्तर यमराज ने "एवमस्तु" ऐसा कह कर कहा कि यह तुम्हारा पति सत्यवान् तुम से सौ पुत्र उत्पन्न कर के ४०० चार सौ वर्ष आयुर्बल पावेगा। ऐसा वरदान दे और सत्यवान् के आत्मा को छोड़ कर स्वयं अपने लोक को जैसे आये थे वैसे ही चले गये। अनन्तर सौभाग्यवती सावित्री अपने पति के कलेवर के निकट आ कर बोली कि हे स्वामिन्! आप उठें इस वचन को सुनते ही सत्यवान् उठ कर खड़े हुए और कहने लगे कि हे प्रिये! मैं ने बहुत शयन किया, बड़ा अतिकाल हुआ, रात्रि हो गई, चलो शीघ्र आश्रम पर चलें, माता जी और पिता जी चिन्ता में होंगे; उन को हमलोगों के विलम्ब होने से बड़ा दुःख हुआ होगा। अनन्तर दोनों (दम्पती) बहुत शीघ्रता से चलकर अपने आश्रम पर पहुंच पिता माता के चरण कमलों को प्रणाम कर नेत्र युक्त पिता जी को देख कर बहुत आनन्दित हुए। महाराज द्युमत्सेन ने विलम्ब होने का कारण पूछा और सावित्री ने सब ज्यों का त्यों वृत्तान्त कह सुनाया, जिस को सुन सब लोग आश्चर्य युक्त हो कर पातिव्रत्य की प्रशंसा कर के सावित्री को सराहने लगे।

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही मन्त्रीगण ने राजधानी से आकर शत्रुओं के नाश का वृत्तान्त सुनाया। और राजा को ले जा कर पुनः राजसिंहासन पर स्थापित किया और

सत्यवान् को युवराज बनाया। अनन्तर कुछ दिनों के बाद सावित्री के पिता महाराज अश्वपति को सौ (१००) पुत्र हुये और सावित्री को भी सौ पुत्र हुए। यह केवल पातिव्रत्य ही का प्रभाव है। पतिव्रता स्त्री का तेज देवताओं से बढ़ कर होता है वे जो चाहें सो कर सकती हैं। शेषनाग भी यदि अपने सहस्र मुखों से उन के गुण और प्रभाव को वर्णन करने लगें तो कदाचित् ही समर्थ होवें। इसी पातिव्रत्य के माहात्म्य पर एक और भी अपूर्व कथा महाभारत में लिखी है।—एक कौशिक नामक ब्राह्मण बड़े महात्मा और श्रौतस्मार्त्त कर्म में प्रवीण थे। वह एक समय वेद पाठ करते हुए किसी वृक्ष के नीचे बैठे थे कि इतने ही में एक बगुले ने उन के ऊपर बीट (विष्ठा) कर दिया। यह देख महात्मा ने क्रोध कर के ऊपर देखा। उन की आंखों से आग की ज्वाला निकली और उस से वह पक्षी जल कर भस्म हो गया। अनन्तर ब्राह्मण देव को बड़ा खेद हुआ कि मेरे कारण यह पक्षी मर गया और कुछ अभिमान भी हुआ कि अब मेरा तेज बहुत हो गया जिस को चाहूं उस को अपने ब्रह्मचर्य के प्रभाव से जला दूं। पश्चात् भिक्षा संग्रह के लिये पवित्र द्विजातियों के घर घूमते २ किसी पतिव्रता स्त्री के द्वार पर जा कर भिक्षा की प्रार्थना की। उस पतिव्रता ने दरवाजे पर उन को ठहरने को कह कर अपने पति के चरणों की सेवा में लग गई और क्षुधित पति को खिला पिला कर थोड़ी देर के बाद भिक्षा ले कर कौशिक के पास

गई। ब्राह्मण देवता इतनी देर के बाद आती हुई उसे देख क्रुद्ध हो कर कहने लगे कि तुम ने बड़ा अकार्य किया मुझे इतनी देर तक ठहरा कर बिना विसर्जन किये घर के कामों में लग गई। उस पतिव्रता ने बहुत विनय से कहा कि हे महात्मन्! मेरे पति परिश्रान्त और क्षुधित हुए थे उन को भोजन कराने में लग गई इसी कारण विलम्ब हुआ, मेरे अपराध को क्षमा कीजिये। महात्मा लोग क्षमा-शील होते हैं अतएव आप से क्षमा चाहती हूं। इस वचन को सुन कर कौशिक अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और कहने लगे कि तुम ब्राह्मण का अनादर कर के अपने पति की सेवा करने लगी। क्या तुम अग्नि के समान तेजस्वी ब्राह्मणों का प्रभाव नहीं जानती हो? यह सुन पतिव्रता ने कहा कि महात्मन्! मैं जङ्गली बगुला नही हूं, रुष्ट हो कर आप मेरे समान पतिव्रताओं का कुछ भी नहीं कर सकते हैं। परन्तु मैं प्रार्थना करती हूं मेरे अपराध को क्षमा कीजिये और भिक्षा को स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कीजिये। इसे सुन कर ब्राह्मण ने चकित हो कर पूछा कि तुम बगुले का वृत्तान्त कैसे जान गई? उस ने कहा कि मुझे केवल पातिव्रत्य धर्म के प्रभाव से विदित हुआ है जो आप ने तपस्या के प्रभाव से बन में बगुले को जलाया था। तब ब्राह्मण ने पूछा कि धर्म क्या है सो कहो। उस ने कहा कि यद्यपि आप विद्वान् हैं तथापि धर्म की गति भलीभांति नहीं जानते हैं। धर्मस्य सूक्ष्मागतिः" धर्म की गति अति सूक्ष्म है, उस का तत्व बड़ा

गुप्त है। यदि आप को धर्म सीखने की इच्छा हो तो मिथिलापुरी में धर्म व्याध के पास जाइये और उस से धर्म सीखिये। मैं तो केवल अपना पातिव्रत्य धर्म जानती हूं, अतएव प्रार्थना करती हूं कि मेरे अपराध को क्षमा कीजिये। अनन्तर कौशिक जी प्रसन्न हो कर उस पतिव्रता स्त्री की शिक्षा ले कर और उसे शुभाशीर्वाद दे कर अपने मन में पछताते हुए चले गये। यह सब पतिसेवा ही का प्रभाव है। महाभारत के वनपर्व्व ७४ अध्याय में दमयन्ती के उद्देश्य से राजा नल ने कहा है—

"वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मान मात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥
रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥"

अर्थात् सती कुलीन स्त्रियां विपत्ति में पड़ने पर भी अपने से अपने की रक्षा करती हैं और निस्सन्देह स्वर्ग को जाती हैं। श्रेष्ठ स्त्रियां स्वामी से रहित होने पर भी कदापि कुपित नहीं होती हैं और सुचरित्र रूपी कवच से आवृत्त प्राण को रखती हैं। महाराज युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से स्त्रियों का धर्म और आचार पूछा तो उन्हों ने सुमना और शाण्डिली का सम्वाद इस प्रकार कह सुनाया। युधिष्ठिर उवाच :—

सत्स्त्रीणां समुदाचारं सर्व्वं धर्म विदाम्वर ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तः तन्मेब्रूहि पितामह ॥

भीष्म उवाच :—

सर्व्वज्ञां सर्व्वतत्वज्ञां देवलोके मनस्विनीम् ।
कैकेयी सुमना नाम शाण्डिलीं पर्यपृच्छत ॥
केन वृत्तेन कल्याणि समाचारेण केन वा ।
विधूय सर्व्वपापानि देवलोकं त्वमागता ॥
हुताशन शिखेवत्वं ज्वलमाना स्वतेजसा ।
सुता ताराधिपस्येव प्रभया दिवमागता ॥
न च स्वल्पेन तपसा दानेन नियमेन वा ।
इमं लोकमनु प्राप्ता त्वंहि तत्वं वदस्व मे ॥
इति पृष्ठा सुमनया मधुरं चारुहासिनी ।
शाण्डिली निभृतं वाक्यं सुमनामिदमब्रवीत् ॥
नाहं कापायवसना नापि वल्कलधारिणी ।
न च मुण्डा च जटिला भूत्वा देवत्वमागता ॥
अहितानि च वाक्यानि सर्व्वाणि परुषाणि च ।
अप्रमत्ता च भर्त्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम् ॥
देवतानां पितॄणां च ब्राह्मणानां च पूजने ।
अप्रमत्ता सदायुक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्त्तिनी ॥
पैशुन्येन प्रवर्त्तामि न ममैतन्मनोगतम् ।
अद्वारि न च तिष्ठामि चिरं न कथयामि च ॥
असद्वा हसितं किञ्चिदहितं वापि कर्मणा ।
रहस्यमरहस्यं वा न प्रवर्त्तामि सर्व्वदा ॥
कार्यार्थेनिर्गतं चापि भर्त्तारं गृहमागतम् ।
आसनेनोपसंयुज्य पूजयामि समाहिता ॥

यदन्नं नाभिजानाति यद्भोज्यं नाभिनन्दति ।
भक्ष्यं वा यदि वा लेह्यं तत्सर्व्वं वर्जयाम्यहम् ॥
कुटुम्बार्थे समानीतं यत्किञ्चित् कार्यमेवतु ।
प्रातरुत्थाय तत्सर्व्वं कारयामि करोमि च ॥
अञ्जनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम् ।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्त्तरि ॥
नोत्थापयामि भर्त्तारं सुखसुप्तमहं सदा ।
आन्तरेष्वपि कार्येषु तेन तुष्यति मे मनः ॥
नायासयामि भर्त्तारं कुटुम्बार्थेऽपि सर्व्वदा ।
गुप्तगुह्या सदा चास्मि सुसंमृष्टनिवेशना ॥
इमंधमपथंनारी पालयन्ती समाहिता ।
अरुन्धतीव नारीणां स्वर्गलोके महीयते ॥

इन श्लोकों का भावार्थ यह है कि एक समय सुमना नामक कैकेयी ने सर्व्वतत्व को जाननेवाली मनस्विनी शाण्डिली से पूछा कि, हे कल्याणि! किस कार्य और सदाचरण से तुम्हारे सब पाप नष्ट हुए और देवलोक में आ कर विहार करती हो? अग्निशिखा के समान अपने तेज से प्रकाशित होती हो? यह साधारण तप, दान और नियम का फल नहीं है, तुम ने कोई अवश्य विशेष पुण्य किया है, सो कृपा कर मुझे कहो। इस प्रकार सुमना के प्रश्न करने पर एकान्त में शाण्डिली ने थोड़ा हंस कर मधुर वचन से कहना प्रारम्भ किया—मैं ने कभी काषाय वस्त्र या वल्कल को नहीं धारण किया और कभी शिर को नहीं मुंडाया, जिस से

देवलोक में आई हूं। मैं कभी अपने पति के प्रति अहित और कठोर वचन नहीं बोलती थी, सदा सावधान हो कर उन के चरणों की सेवा करती थी, प्रति दिन सास और ससुर की शुश्रूषा किया करती थी और देवता, पितर और ब्राह्मणों की पूजा में सदा रत रहती थी। किसी की चुगली नहीं खाती थी और अपने मन में भी कभी किसी की बुराई नहीं सोचती थी। कभी झरोखे पर बैठ कर झांकी नहीं मारती थी और बहुत नहीं बोलती थी। किसी कार्य विशेष से जब मेरे पति बाहर जाकर घर लौटते थे, तब मैं आसन दे कर बड़े प्रेम से उन की सेवा करती थी। जो भोजन मेरे पति को नहीं रुचता था उस को मैं पसन्द नहीं करती थी। प्रातः काल उठ कर अपने परिवार के लिये गृहकार्य अपने आप करती थी और दूसरों से कराती थी। पति के परदेश जाने पर अञ्जन, रोचना, स्नान, माला और भूषणादि मुझे अच्छे नहीं मालूम होते थे। सुख से सोये हुए अपने पति को अत्यावश्यक कार्य पड़ने पर भी नहीं जगाती हूं, इसी से मेरा चित अत्यन्त प्रसन्न रहता है। परिवार के लिये भी अपने पति को क्लेश देना मुझे नहीं रुचता है। इसी धर्ममार्ग को पालन करने से स्त्री अरुन्धती के समान सब स्त्रियों से श्रेष्ठ हो कर स्वर्गलोक में आनन्द प्राप्त करती है और अन्त में मुक्ति पाती है।

ईश्वरभक्ति।

इस संसार में कीट से इन्द्र पर्य्यन्त जितने जीवधारी हैं, उन सबों की इच्छा यही रहती है कि किसी प्रकार दुःख का नाश हो और सर्व्वथा सुख हो। इसी के प्रबन्ध में सब लोग लगे रहते हैं, परन्तु बहुत परिश्रम कर के भी ऐसे सुख को नहीं पाते जिस का कभी नाश नहीं हो। जितने सांख्यादि षट् (६) शास्त्रों के बनानेवाले हुये हैं, उन लोगों का मुख्य उद्देश्य यही था और इसी के लिये अपनी २ बुद्धि के अनुसार भिन्न २ सम्प्रदायों को दिखाया है। सबों का सिद्धान्त यही है कि मुक्तिलाभ ही परमानन्द का कारण है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने भी अर्जुन से कहा है कि मोक्ष ही परमानन्द है, इसी की प्राप्ति के लिये कोई आचार्य कहते हैं कि, प्रकृति पुरुष के विवेक होने ही से आनन्द प्राप्त होता है। सब सुख और दुःख प्रकृति को है, पुरुष तो पुष्करपलाशवत् सदा निर्लेप है और सच्चिदानन्द रूप है। इसी के अभ्यास करने से जीवात्मा सुख दुःख से रहित हो कर आनन्द स्वरूप हो जाता है। कोई कहते हैं कि—

"सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।"

अर्थात् सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, दूसरा कुछ नहीं है। यह संसार रज्जु में सर्प के समान, मृगतृष्णा में जलबुद्धि के सदृश, और शुक्ति में रजत के तुल्य केवल भ्रममात्र है, वस्तुतः कुछ

नहीं है, बस इसी ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति होती है। सदा "तत्त्वमसि" के अभ्यास करने से मुक्ति होती है। किसी योगिराज की सम्मति है कि योगसाधन ही परमानन्द है, क्योंकि योग ही से प्राणवायु को सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में ले जा कर और वहां स्थिर कर समाधि के प्रभाव से योगी लोग आत्मसाक्षात्कार करते हैं, जिस से अलौकिक और अकथ्य परमानन्द प्राप्त होता है उसी को मोक्ष कहते हैं। किसी का मत है कि यज्ञ करने ही से मुक्ति होती है। कोई कहते हैं कि पदार्थों के सम्यक् बोध ही को ज्ञान कहते हैं और उसी से मोक्ष होता है। इस प्रकार जिस की बुद्धि जहां तक पहुंची कहते गये। कोई द्वैत ही मानते हैं, कोई अद्वैतवादी ही हैं और कोई द्वैताद्वैत ही को सिद्ध करते हैं। वेद में लिखा है—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती है। और भी यजुर्वेद में लिखा है—

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णन्तमसः परस्तात्।
तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय॥"

अर्थात् सूर्य के समान प्रकाशमान और तमोगुण से रहित उस महान् पुरुष को मैं जानता हूं, उन्हों के जानने से प्राणी मृत्युरहित (मुक्त) हो जाता है। दूसरा मार्ग जाने के लिये नहीं है। बड़े बड़े आचार्यों ने परमेश्वर में भक्ति ही को मुक्ति के लिये सर्व्वश्रेष्ठ उपाय बताया है। भक्ति को मुक्तिसाधन मानने में प्रायः सब भिन्न २ मतानुयायी आचार्यों की सम्मति है।

पूर्व्वोक्त सब ज्ञानादि भक्ति के साथ ही रहने से मुक्ति देने में समर्थ होते हैं अन्यथा नहीं। वेद में स्पष्ट लिखा है—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न चेज्यया न तपसा बहुना वा श्रुतेन।
यमेवैष वृणुतेन लभ्यस्तनुं स्वाम् ॥"

अर्थात् परमात्मा ज्ञान से नहीं, बहुत तपस्या से अथवा बहुत यज्ञ करने से नहीं मिलते, परन्तु, जिस पर भक्ति द्वारा प्रसन्न होते हैं उसी को अपना स्वरूप प्रकाशित करते हैं। केवल ज्ञान ही से कुछ नहीं होता श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में लिखा है।—

"श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्यते विभो,
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यथा स्थूल तुषावघातिनाम्। "

अर्थात् हे भगवन्! कल्याण करनेवाली आप की भक्ति को छोड़ कर जो लोग केवल ज्ञानलाभ ही के लिये क्लेश करते हैं उन को केवल क्लेश ही क्लेश रह जाता है, जिस प्रकार चावल से रहित भूसी को कूटने से कुछ फल लाभ नहीं होता केवल क्लेश ही होता है और कुछ नहीं मिलता है। और भी भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने अर्जुन से कहा है कि :—

"क्लेशोऽधि कतरस्तेषामव्यक्ता सक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

मय्यावेश्य मनो येमां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयो पेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥"

अर्थात् जो लोग अव्यक्त में लगे रहते हैं उन को अधिकतर क्लेश ही होता है। जो लोग मुझ में मन लगा कर बड़ी श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं सो मेरे परम प्रिय हैं, उन को सब प्रकार से रक्षा करता हूं। इस कारण भक्ति ही को विशेष कर कलियुग में श्रेष्ठ माना है। वह भक्ति क्या है, कैसे होती है, उस का अभ्यास कैसे किया जाता है, यह जानना परम आवश्यक है। भक्ति शब्द सेवार्थक भज् धातु से क्ति प्रत्यय करने से बना है, इस का अर्थ सेवा या प्रीति है। नारद जी ने भक्ति सूत्र में लिखा है—"सा कस्मै परम प्रेमरूपा।" अर्थात् वह (भक्ति) परमेश्वर के प्रेमरूप ही है। ईश्वर और जीव के मध्य में जो मार्ग है वह भक्ति है। वस्तुतः परमेश्वर में जीव को मिलानेवाली भक्ति ही है। और भी नारद जी ने कहा है—

"तदर्पिताखिला चारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति।"

अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर तन्निमित्त करना और ईश्वर के क्षणमात्र भी विस्मरण होने को सब से बड़ा दुःख समझना यही भक्ति है। परमेश्वर से इस जीव की उत्पत्ति हुई है, अतएव पुत्ररूपी जीव को पितृरूपी परमेश्वर की सेवा अवश्य कर्त्तव्य है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है :—

"ब्रह्मपयोनिधि मन्दर, ज्ञान सन्त सुर आहिं।
कथासुधा मथि काढ़ई, भक्ति मधुरता जाहि॥
विरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाई सोइ हरिभगति, देखु खगेस विचारि॥"

और भी श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में ब्रह्मा जी ने कहा है—

"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदंततः पतन्त्य धोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः॥

हे कमलनयन! जो लोग अपने को विमुक्त मान कर आप के चरणों में प्रेम नहीं करते वे बहुत कष्ट से परमपद को पा कर भी आप के चरणों के अनादर करने के अपराध से नीचे गिरते हैं। भक्ति का माहात्म्य बहुत बड़ा है, इस के प्रभाव से मुक्ति विशेषतः कलियुग में बहुत सुख से लभ्य है। इसी लिये बड़े शास्त्रकारों ने मुक्तकण्ठ से कहा है:—

"कलौभक्तिः कलौभक्तिः भक्त्या मुक्तिः करेस्थिता॥"

और भी

"भक्त्यात्वनन्यया लभ्यो हरिरन्यद्विडम्बनम्।"

कलियुग में केवल भक्ति ही की जय है इसी के द्वारा मुक्ति होती है। और केवल अनन्य भक्ति ही से हरिभगवान् मिलते हैं और सब विडम्बना है। भक्ति माता है। इसी के

ज्ञान और वैराग्य दोनों पुत्र हैं। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने कहा है —

" सर्व्वान् धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ "

अर्थात् हे अर्जुन! सब धर्मों को छोड़ कर केवल मेरी शरण में आओ, मैं तुम को सब पापों से छुड़ा दूंगा, कुछ चिन्ता मत करो। और भी—

" मांहि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥"

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि चाण्डालादि भी यदि मेरी भक्ति करते हैं तो परम पद को पाते हैं। यह निश्चय समझना चाहिये। भक्ति के करने में पहले तृष्णा को छोड़ देना अत्यावश्यक है। जब तक विषयों से वैराग्य और यथा लाभ सन्तोष नहीं होता तब तक भक्ति लाभ नहीं होता। कठोपनिषद् में लिखा है।—

" यदा सर्व्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्ये हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ "

जब हृदय की सब कामना नष्ट हो जाती है तब नश्वर मनुष्य अवनीश्वर हो जाता है और ब्रह्म को पाता है। भक्त जन जो कुछ करते हैं सो सब भगवान् ही के निमित्त, स्वार्थ कुछ भी नहीं करते और भक्ति के सामने त्रैलोक्य के राज्यसुख को भी तृणवत् तुच्छ समझते हैं।

नारद जी ने कहा है कि—"सा न कामयमाना निरोध-रूपत्वात्" अर्थात् वह भक्ति कामना रखने से नहीं होती, क्योंकि वह सब कामनाओं को रोकनेवाली है। गुसाईं तुलसीदास जी ने भी कहा है—

"जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहां राम तहँ काम।
तुलसी कबहुँ कि होत है, रवि रजनी इक ठाम॥"

श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन से कहा है कि हे अर्जुन! इस संसार में चारो प्रकार के सुकृती जन (आर्त्त, जिज्ञासु, धनार्थी और ज्ञानी) मेरा भजन करते हैं, उन में से निष्काम भजन करनेवाला ज्ञानी मेरा विशेष प्रिय है। गुसाईं जी ने भी कहा है—

"रामभक्त जन चारि प्रकारा।
सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥"

(भगवद्गीता।)

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥"

योगसूत्र में लिखा है—

"शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।"

अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय (वेदपाठ) और

ईश्वर प्रणिधान (परमेश्वर की भक्ति) ये क्रियायोग हैं। प्रणिधान उस भक्ति को कहते हैं, जिस में फलप्राप्ति की अभिलाषा किये बिना सब कर्म को परम गुरु परमेश्वर में समर्पण किया जाय।

श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन से कहा है—

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
नाहं वेदै र्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधोद्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥"

हे अर्जुन! जो लोग अपने चित्त को केवल मेरी ही ओर लगा कर सदा मेरा स्मरण करते हैं उन भक्तों को मैं सदा अनायास प्राप्त होता हूं। हे पार्थ! जैसा तुम ने मुझे देखा तैसा वेद से, वा तपस्या से, वा दान करने से, वा यज्ञ करने से मुझे कोई नहीं देख सकता है। हे परन्तप! जीवों को केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही मेरे इस स्वरूप का दर्शन हो सकता है, इस का तत्व जाना जा सकता है और इस रूप में प्रवेश करने का सामर्थ्य हो सकता है। महाभारत—शान्तिपर्व्व में लिखा है कि भगवान् ने श्वेत द्वीप में आकाश-वाणी से सनकादि ऋषियों के प्रति यों कहा :—

"गच्छध्वं मुनयः सर्व्वे यथागतमितोऽचिरात्।
न स शक्यस्त्व भक्तेन द्रष्टुं देवः कथञ्चन॥

कामं कालेन महता एकान्तित्व मुपागतैः ।
शक्योद्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलमण्डितः ॥"

अर्थात् हे मुनिगण! आप लोग जैसे यहां आये हैं तैसे ही लौट जाइये, क्योंकि अभक्त लोग किसी प्रकार उस परमेश्वर को नहीं देख सकते। बहुत समय तक ईश्वर निमित्त काम करने पर जब एकान्त की भक्ति का लाभ होता है, तब मनुष्य ईश्वर के दुदर्श तेज का दर्शन करने के योग्य होता है। इन सब वाक्यों से यही सिद्ध है कि तपस्यादि द्वारा भले ही कोई सिद्ध और ऋषीश्वर हो जाय, परन्तु भक्ति के बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता। यह भक्ति नौ प्रकार की है—

"श्रवणं कीर्त्तनं चैव स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ॥"

अर्थात् श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, चरणसेवन, पूजन, प्रणाम, दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन ये नवधा भक्ति है। उन में प्रथम भक्ति श्रवण है और सब भक्तियों की उत्पत्ति इसी से होती है। वेद में भी मैत्रेयी के प्रति उपदेश है—

"आत्मा वारेद्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।"

प्रथम श्रवण, अनन्तर मनन, तदनन्तर निदिध्यासन करना चाहिये, तब आत्मा का साक्षात्कार होता है। परमेश्वर ने मनुष्यों को ऐसा उत्तम श्रवणेन्द्रिय दिया है, इसे पाकर

जिस ने भगवत्कथा का श्रवण नहीं किया उस का कान कान नहीं है, परन्तु सर्प के बिल से भी बढ़ कर भयङ्कर बिल है—

"जिन हरिकथा सुनी नहिं काना ।
श्रवणरन्ध्र अहिभवन समाना ॥"

भगवान् की कथा श्रवणेन्द्रियद्वारा प्रवेश कर अनेक जन्म के सञ्चित पापों को शुद्ध कर के हृदयरूपी कमल को भगवान् के निवास करने योग्य पवित्र कर देती है और उन के आने के पूर्व्व ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये अन्तःस्थित छव (६) शत्रु जो सदा डांका दे कर गुरुद्वारा प्राप्त हृदयस्थित सदुपदेश रूपी रत्नों को चुराते हैं, वे मारे डर के पहले ही से भागे रहते हैं। तब वह मनुष्य कभी अकार्य नहीं करता और सदा भगवान् ही के चिन्तन में रहता है। इस प्रकार मनन होने के अनन्तर उस का चित्त तन्मय हो कर निदिध्यासन में लग जाता है, तब परमेश्वर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं, जिस को पाकर इस असार संसार रूपी दुःखसागर को अनायास ही पार हो जाता है। इसी लिये लिखा है कि—

"असार संसार महा समुद्रे विश्वेश पादाम्बुज दीर्घ नौका।"

केवल एक श्रवणरूप भक्ति ही से सायुज्य मुक्ति का लाभ हो सकता है, इस का प्रत्यक्ष उदाहरण राजा परीक्षित हैं। उन को जब विदित हुआ कि ऋषि के बालक के शाप से सातवें दिन में तक्षक सर्प के डसने से हम मर जायेंगे, बस

उसी समय घर छोड़ कर गङ्गा तीर में बड़ी भक्ति से वे भगवान् की कथा सुनने लगे। श्री शुकदेव जी कथा श्रवण कराते थे। सातवें दिन कथा की समाप्ति हुई और उसी क्षण राजा परीक्षित को मुक्ति मिली।

द्वितीय भक्ति कीर्त्तन अर्थात् भगवान् के गुणों का गान करना है। एक समय नारद जी सर्व्वान्तर्यामी करुणानिधान विष्णु भगवान् के दर्शन करने को सत्यलोक में गये। वहां भगवान् का दर्शन पाकर अत्यन्त कृतार्थ हुए और बड़े प्रेम से उन की स्तुति करने लगे। भगवान् उन की भक्ति से प्रसन्न हो कर बोले कि हे नारद! तुम्हारे समान मेरा कोई दूसरा प्रिय नहीं है, मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूं। नारद जी ने कहा कि "हे भगवन्! यह तो आप की कृपा है, मैं किस योग्य हूं, उस का धन्य भाग्य है जिस पर आप की कृपा है" और फिर पूछा कि हे भगवन्! आप कृपा कर मुझे बताइये कि आप सदा किस स्थान में निवास करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा कि हे नारद! मैं न तो वैकुण्ठ में रहता हू और न योगियों के हृदय में निवास करता हूं, परन्तु केवल वहीं सदा स्थिर रहता हूं जहां प्रेम से मेरे भक्त लोग गान करते हैं।

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये तथा।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥"

इस के उदाहरण श्री शुकाचार्य्य ही हैं। जब राजा

परीक्षित अपने मृत्यु के दिन से सात दिन पूर्व ही गङ्गातट में जा कर बैठ गये उस समय वहां सब ऋषि मुनि उपस्थित हुये। पराशर, व्यास, जावालि, शाण्डिल्य, मुद्गल, विश्वामित्र प्रभृति बड़े २ महात्मा गण एकत्रित हुये थे, परन्तु किसी का ऐसा साहस नहीं हुआ था कि जो बड़ा एक ऊंचा आसन उपदेशक के वास्ते बना था उस पर जा कर बैठे। अनन्तर पराशर मुनि के पौत्र व्यास जी के पुत्र शुकदेव जी जो अवधूत के वेश में दिगम्बर थे आकर उस आसन पर बैठ गये और भगवान् के गुणों का कीर्त्तन करने लगे। केवल कीर्त्तन ही का प्रभाव था कि उन ने पिता और पितामह से भी बढ़ कर ऊंचे आसन को सुशोभित किया। जिस समय सर्व्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द जगदीश्वर श्री कृष्णचन्द्र प्रकट हुए उस समय भक्ति स्वयं भगवान् के सामने नृत्य करने लगी, प्रह्लाद ताल देने लगे, उद्धव जी शीघ्रता से मजीरा बजाने लगे, सुरर्षि नारद जी वीणा लेकर पहुंच गये, बड़े श्रेष्ठ गायक नादविद्या में प्रवीण अर्जुन राग छेड़ने लगे, देवराज इन्द्र मृदङ्ग बजाने लगे, सनकादि ऋषिगण जयजयकार करने लगे और श्री व्यास जी के पुत्र शुकदेव जी महाराज भाव बताने लगे।

"प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी,
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया राग कर्त्तार्जुनोऽभूत्॥
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जय जय सुकराः कीर्त्तने ते कुमाराः।
यत्राग्रे भाववक्ता रस रचनतया व्यासपुत्रो बभूव॥"

तृतीय भक्ति स्मरण है। भगवान् के चरण कमलों का सदैव चिन्तन करना स्मरणभक्ति है। केवल स्मरण करने ही से करुणानिधान जगदीश्वर प्रसन्न हो कर ऐहलौकिक सब सुखों को दे कर पारलौकिक सुखों को देते हैं। इस का उदाहरण भक्तशिरोमणि प्रह्लाद जी हैं। प्रह्लाद जी जन्मकाल ही से भगवान के भक्त निकले। उन के पिता असुरराज हिरण्यकशिपु को यह बात अच्छी नहीं लगती थी। वह सदैव यही चाहता था कि जिस में मेरा पुत्र प्रह्लाद मेरे शत्रु हरि की भक्ति कभी नहीं करे और उन का नाम कभी न ले। इस लिये उस ने प्रह्लाद जी को बहुत समझाया और कहा कि हे पुत्र! त्रैलोक्य नाथ मैं हूं, मेरा पुत्र हो कर तुम क्यों विष्णु का स्मरण करते हो, वह मेरा परम शत्रु है और शत्रु देवताओं का पक्षपाती है। शत्रु का मित्र शत्रु ही होता है। इसी लिये मैं तुम को समझाता हूं। तुम सदा मेरा नाम जपा करो। मुझ से यम, कुवेर, इन्द्र और वरुण आदि सब देवता डरते हैं, मैं ही चराचर का स्वामी हूं। यद्यपि इस प्रकार के अनेक उपदेश उन को दिये गये तथापि उन की भक्ति ऐसी दृढ़ थी कि सब उपदेश व्यर्थ हुये; उन ने हरि भजन नहीं छोड़ा। अनन्तर हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को समुद्र में फेंकवा दिया, पर्व्वत पर से नीचे गिरवा दिया, हाथियों के पैर तले कुचलवा दिया, भोजन में विष दिलवा दिया और कृत्या से बध कराने का उपाय किया, परन्तु भगवान के स्मरण के प्रभाव से वह ज्यों के त्यों रहे। उन का सिद्धान्त यही था

कि प्राण जाय तो जाय, परन्तु हरि भजन नहीं छोड़ूंगा। जब प्रह्लाद जी अनेक उपायों से नहीं मरे, तब हिरण्यकशिपु ने क्रोधान्ध हो कर उन को एक खम्भे में बान्ध कर और स्वयं हाथ में खड्ग ले कर कहा कि रे कुलकलङ्क दुष्ट पुत्र! अब भी तुम मेरा कहना मानो, हरिभजन छोड़ो, नहीं तो इसी से तुझे मार डालूंगा। इस समय तुम्हारा रक्षक भगवान् कहां है? सो बताओ। इस पर प्रह्लाद जी ने कहा कि हे पित: मेरे प्राण भले ही चले जायं, परन्तु संसार के दुःखों के दूर करनेवाले परमानन्द मुकुन्द के चिन्तन से मेरा चित्त कभी नहीं हटेगा।

"असवो यदि यान्ति यान्तुमे परमानन्द मुकुन्द चिन्तने।
भवताप कदम्बभञ्जने विरतं नैव कदापि मानसम्॥"

वह भगवान् सर्व्वत्र व्यापक हैं, मुझ में, आप में, खड्ग में, और खम्भे में भी विराजमान हैं। (हम में तुम में खड्ग खम्भ में) ऐसे दृढ़ उत्तर को सुन कर असुरराज हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त क्रुद्ध हो कर प्रह्लाद जी के मारने की इच्छा से पहले खम्भे ही पर खड्ग प्रहार किया, उसी क्षण भक्तहित-कारी राधाविहारी मुरारि भगवान् नरसिंह रूप धारण कर साक्षात् प्रकट हुए और उस दुष्ट असुरराज को मार कर अपने भक्तशिरोमणि प्रह्लाद को बचाया। यह केवल स्मरण-भक्ति ही की महिमा है *।

---

* राम को नाम बड़ो जग में, सोइ राम को नाम रटै

चतुर्थ भक्ति पादसेवन अर्थात् भगवान् के चरणों की सेवा है। इस संसार रूपी महा समुद्र को पार करनेवाली बड़ी नौका भगवान् के चरण कमल ही है। इसी की सेवा से मनुष्य आवागमन से रहित हो जाते हैं और परमपद को पाते हैं। उस दुर्लभ चरण की प्राप्ति बड़े भाग्योदय से होती है। यह सौभाग्य श्री लक्ष्मी जी महारानी ही को है, जो सदा भगवान् के चरण कमलों की सेवा करती हैं। बड़े २ योगी और ज्ञानी लोग उसी पद को पाने के लिये बड़ी २ चेष्टा करते हैं, परन्तु भगवत्कृपा के विना थोड़ी देर के लिये भी नहीं पाते हैं। धन्य है भक्ति जिस के कारण परमेश्वर सदा भक्तों के अधीन रहते हैं और उन्हीं को परमानन्द का अनुभव कराते हैं। भगवन्मूर्त्ति के चरण की सेवा करने ही से सकल मनोरथ सिद्ध होते हैं। पञ्चम भक्ति अर्चन अर्थात् पूजन है। भगवान् के चरण कमलों को यथाविधि पूजन करने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं, मन पवित्र हो जाता है और हृदय रूपी कमल विकशित हो कर उन के निवास के योग्य स्थान बन जाता है। इस भक्ति के उदाहरण राजा पृथु हैं, जिन ने षोड़शोपचार से भगवच्चरणों को पूज कर बहुत दिनों

नर नारी। राम के नाम तरी सेवरी बहु तारे अजामिल से खल भारी॥ राम को नाम लियो हनुमान हते बहु निश्चर लंक मझारी। प्रेम ते नेम ते नाम रटौ नित राम को नाम बड़ो हितकारी॥

तक राज्य भोग किया और अन्त में अलभ्य मुक्ति पाई। उन्हीं के नाम से पृथ्वी विख्यात हुई है।

षष्ठ भक्ति वन्दन अर्थात् प्रणाम करना है। केवल भगव-मूर्त्ति के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करने से अनेक जन्म के पाप दूर होते हैं। सौ अश्वमेध यज्ञों के फल से भी एक प्रणाम का फल कहीं बढ़ कर है। महात्माओं ने कहा है कि श्री वासुदेव को एक बार प्रणाम करना सौ अश्वमेध यज्ञों के तुल्य है। विशेष यह है कि सौ अश्वमेध करने से पुनर्जन्म पाते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण के चरणों में बहुशः प्रणाम करनेवाले फिर कभी भवसागर में नहीं आते हैं।

" एकः प्रणामो वसुदेवसूनोः शताश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
शताश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्ण प्रणामी न पुनर्भवाय॥

कृष्ण प्रणामी शब्द में भूमार्थक इन् प्रत्यय समझना चाहिये। इस वन्दन भक्ति के उदाहरण रूप अक्रूर जी हैं। जब वह कंस की आज्ञा से श्री कृष्णचन्द्र और बलदेव जी को वृन्दावन से मथुरा ले जा रहे थे और मार्ग में स्नान करने लगे उस समय श्री कृष्णचन्द्र जी का अपूर्व्व प्रभाव देख कर अद्भुत आश्चर्य युक्त हुए और कर्म्मणा मनसा वचसा बड़े प्रेम से भगवान् को प्रणाम कर स्तुति करने लगे। श्री कृष्ण जी अक्रूर जी की निष्कपट प्रणाम रूप भक्ति को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन को अपना परम भक्त बनाया। ऐसे उत्तम मनुष्य क शरीर पाकर जिस ने भगवान् की भक्ति नहीं की उस को धिक्कार है।

" येषां श्री मद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्ति र्नराणां,
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरस कथा नागता कर्णपूरे
धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति सततं कीर्त्तनस्थो मृदङ्ग "

अर्थात् कीर्त्तन का मृदङ्ग उन लोगों को धिक्कारता है जिन की भक्ति यशोदानन्द के चरण कमलों में नहीं है, जिन की जीभ राधाकृष्ण जी के गुणों का वर्णन नहीं करती, और जिन के कान सादर भगवान् की कथा को नहीं सुनते हैं।

हरि नाम बिसारी कुकाम रचे श्रुतिसार कथा न रुची जिन को।
तिन दाम है वाम बुलावत हैं मिलि कै नहिं नाच नचावन को।
धिक् है धिक् है मिरदंग कहै मञ्जीर कहै किन को किन को।
कर से तिय भाव बतावति है इन को इन को इन को इन को॥

सप्तम भक्ति दास्य है, अर्थात् परमेश्वर को सब का स्वामी मान कर निरत होना है। परमेश्वर ही का दास हो कर रहना और उन्हीं के चरणों की सेवा करना दास्यभक्ति है। इस का उदाहरण श्री हनुमान् जी हैं। उन का अवतार केवल भगवान् के चरित्र का श्रवण और दास्य करने ही के लिये हुआ था; उन के प्रेम का माहात्म्य कौन कह सकता है ? उन्हीं का वाक्य है—

" दासोऽहं कोशलेन्द्रस्य रामस्य क्लिष्टकर्मणः।
हनूमान् शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥"

जिस समय श्री रामचन्द्र जी महाराज अयोध्या के

राजसिंहासन पर विराजमान हुए उस समय स्वयं उन्हीं ने हनुमान जी की प्रशंसा कर के कहा कि इन ने हमारा बड़ा काम किया। इन के समान हमारा दूसरा कोई दास नहीं है और पारितोषिक एक बहुमूल्य रत्न की माला दी। हनुमान जी ने कहा कि हे भगवन्! इस रत्नमाला में आप का नाम नहीं है तो इस को ले कर मैं क्या करूंगा? तब राम जी ने कहा कि हम तुम: से बहुत प्रसन्न हैं? जो इच्छा हो सो वर मांगो। हनुमान जी ने कहा कि हे प्रभो! जब तक आप की पवित्र कथा संसार में रहे तब तक आप की आज्ञा पालन करता हुआ और आप का नाम लेता हुआ पृथिवी पर ठहरूं यही चाहता हूं। सदा मैं आप का दास बना रहूं यही वर मुझे दीजिये। और मुझे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है।

"यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पाविनी।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञा मनुपालयन्॥"

तब श्रीराम जी ने "एवमस्तु" कह कर उन को सन्तुष्ट किया और उन का मत अद्यापि श्री भगवान् के मुखारविन्द से सुने हुए विष्णुतत्व के अनुसार "माध्वमत" नाम से प्रसिद्ध है। शेष जी ने भी केवल दास्यभक्ति की शिक्षा के हेतु श्री लक्ष्मण रूप अवतार ले कर संसार को दिखाया कि दास्यभक्ति इस रीति से करना चाहिये जैसा मैं करता हूं। और स्वयं भी पञ्चवटी में अपने सब गुप्त सिद्धान्त के उपदेश

लिये तथा श्री लक्ष्मी जी और गरुड़ से नारायणीय सिद्धान्त पाकर उन्हों ने विश्वकेतु प्रभृति को उपदेश दिया जो मत अभी तक "रामानुजीय" नाम से विख्यात है। भक्तशिरोमणि अक्रूर जी का वाक्य है :—

"अहंहि नारायण दासदासो दासानुदासस्य च दासदासः।"

विदुर जी ने कहा है।—

"वासुदेवस्य ये भक्ताः शान्तास्तद्गत मानसाः।
तेषां दासस्य दासोहं भवेय जन्मजन्मनि॥"

अर्थात् जो शान्तपुरुष श्री वासुदेव भगवान् के भक्त हैं और उन्हीं में मन लगाये हुए हैं उन के सेवक का सेवक मैं जन्मजन्मान्तर में होऊं। उद्धव जी और युधिष्ठिर महाराज को तो हरिदास नाम ही मिला है।

किसी की उक्ति है—

"श्रीनाथे पुरुषोत्तमे त्रिजगतामेकाधिपे चेतसा।
सेव्ये स्वस्य पदस्य दातरिविभौ नारायणे तिष्ठति॥
यं कञ्चित्पुरुषाधमं कतिपयग्रामेशमल्पार्थदं।
सेवायै मृगयामहे नरमहो मूढ़ावराका वयम्॥"

अर्थात् हमलोग बड़े मूर्ख और मन्दभाग्य हैं जो पुरुषोत्तम, त्रिभुवन के स्वामी, मन ही से सेवनीय, अपने पद को देनेवाले, विभु, श्री लक्ष्मीनाथ भगवान् नारायण को रहते (छोड़ कर) किसी एक अधम पुरुष, कईएक गांवों के मालिक, थोड़े देनेवाले मनुष्य की सेवा करने के लिये खोजते

फिरते हैं, यह बड़े खेद की बात है। क्योंकि एक भगवान ही की सेवाभक्ति करने से सकल मनोरथ सिद्ध होते हैं।

अष्टम भक्ति सख्य है। भगवान् से मित्रभाव रखने को सख्यभक्ति कहते हैं। उद्धव, सुदामा, अर्जुन, सुग्रीव, कुबेर, गरुड़ प्रभृति को सख्यभक्ति हुई है। उद्धव जी को श्रीकृष्ण जी ने अपना अन्तरङ्ग परम मित्र समझ कर वृन्दावन में भेजा था, वहां गोपियों की दृढ़भक्ति भगवान् में देख कर बहुत प्रसन्न हुए और अन्त में सख्यभक्ति ही के कारण उन को मुक्ति मिली। सुदामा जी तो सख्यभक्ति का आदर्श-स्वरूप ही हुए हैं। जब वह भगवान् के दर्शन की इच्छा से श्रीद्वारिका में पहुंचे उस समय भगवान् रुक्मिणीनाथ श्रीकृष्ण जी उन के प्रेम से बेसुध हो गये और प्रेममय वार्त्ता-लाप करते २ उन की फरुही आप ही छीन कर खाने लगे और उन को नहीं चाहने पर भी बड़ा ऐश्वर्य दिया। अर्जुन के प्रति भगवान् ने श्रीमुख से कहा है कि हे पार्थ! तुम मेरे परम भक्त और मित्र हो "भक्तोऽसि मे सखाचेति।" और स्वयं सारथी बन कर उन का सकल मनोरथ परिपूर्ण किया। अर्जुन ने भी प्रेम से कहा—

"सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं त वेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथ वाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥"

अर्थात् हे भगवन् अच्युत ! आप की महिमा को नहीं जानते हुए मैं ने सखा समझ कर हे कृष्ण ! हे यादव, हे सखे ! ऐसा कहा और प्रमाद से अथवा स्नेह से परिहास के लिये विहार, शयन, आसन और भोजन के समय आप का तिरस्कार किया सो आप क्षमा कीजिये मैं आप की शरण में प्राप्त हूं इत्यादि।

सुग्रीव ने श्री रामचन्द्र जी से सख्यभक्ति कर के अभीष्ट मनोरथ पाया। कुबेर की सख्यभक्ति सदा शिव जी में थी। गरुड़ जी की सख्यभक्ति श्री लक्ष्मीनारायण भगवान् में थी। सख्यभक्ति ही के कारण वे लोग श्रेष्ठ हुए हैं।

नवम भक्ति आत्मनिवेदन है। भगवान् को सर्व्वस्व समर्पण कर के आत्मा को भी उन के चरणों में समर्पण करने को आत्मनिवेदन कहते हैं। इस का उदाहरण राजा बलि हैं। जिस समय विष्णु भगवान् वामनावतार हो कर राजा बलि के यहां गये उस समय दोनों में परस्पर प्रश्नोत्तर पद्य हुआ।

कस्त्वं ब्रह्मन्नपूर्व्वः क्वचतव वसतिर्याऽखिला ब्रह्मसृष्टिः।
कस्ते नाथोस्म्यनाथः क्वचतव जनको नैव तातं स्मरामि॥
किन्तेऽभीष्टं ददामि त्रिपदपरिमिता भूमिरल्पं किमेतत्।
त्रैलोक्यं भावयेऽहं बलिमिति निगदन् वामनोवः स पायात्॥

इस प्रकार उत्तर प्रत्युत्तर से उन को सत्पात्र-ब्राह्मण समझ कर राजा बलि ने कहा कि आप की जो इच्छा हो

सो मुझ से मांगिये। वामन जी ने केवल तीन डेग भूमि मांगी। जब उन्ह ने भूमिदान का संकल्प किया तब वामन जी इतने बढ़ गये कि दोही डेग में आकाश, पाताल मर्त्यलोक को ले लिया और तीसरे डेग के बदले बलि को बान्ध कर पाताल में भेज दिया। दान करने के पहले शुक्राचार्य ने बलि को बहुत समझा कर रोका था कि यह साक्षात् विष्णु तुम को छलने के लिये वामन हो कर तुम्हारे पास आए हैं, इन को दान मत दो, परन्तु बलि ने यही कहा कि मैं विष को हालाहल नहीं समझता, जिस का प्रतीकार है, हालाहल (विष) तो ब्रह्मस्व है जिस का कोई प्रतीकार नहीं है।

नाहं हलाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया।
हालाहलं तु ब्रह्मस्वं नास्ति यस्य प्रतिक्रिया॥"

और सर्व्वस्व दान दे कर आत्मसमर्पण कर ही दिया। अन्त में भगवान् ने स्वयं कहा कि दूसरे कल्पान्त में तुम्हीं इन्द्र होगे, अधिक क्या चाहते हो? बलि ने कहा कि हे भगवन्! मैं केवल आप का दर्शन सदा चाहता हूं। तदनुसार वामन भगवान् पाताल में बलि के द्वार पर द्वारपाल बन कर सदा उन को दर्शन दिया करते हैं। यह आत्मनिवेदन भक्ति ही का फल है।

इन नवधा भक्तियों में से किसी एक को भी करने से सायुज्य मुक्ति का लाभ होता है:—

"श्रीविष्णोः श्रवणेपरीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्त्तने।
प्रह्लादः स्मरणे तदंघ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने॥

अक्रूरस्त्वभिवन्दनेऽथ हनुमान् दास्येथ सख्येर्जुनः।
सर्व्वस्वात्मनिवेदने वलिरभूत्सायुज्य मेषांफलम् ॥"

नारद जी ने भक्तिसूत्र में कहा है कि एक ही भक्ति ग्यारह प्रकार से होती है :—

ॐ गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति सख्यासक्ति, कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्ति प्रजासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण में नवधाभक्ति के विषय में यों लिखा है :—

प्रथम भक्ति सन्तन कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥

गुरुपदपंकज सेवई, तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भक्ति मम गुणगण, करे कपट तजि गान ॥

मन्त्रजाप मम दृढ़ विश्वासा।
पञ्चम भजन सो वेद प्रकाशा ॥
छठ दमशील विरति बहु कर्मा।
निरत निरञ्जन सज्जन धर्मा ॥
सप्तम सब मोहिमय जग देखे।
मोते सन्त अधिक करि लेखे ॥
अष्टम यथालाभ सन्तोषा।
सपनेहुँ नहि देखे परदोषा ॥

नवम सरल सब सों छलहीना ।
मम भरोस जिय हर्ष न दीना ॥
नव महँ जिन्ह के एको होई ।
नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सो अतिशय प्रिय भामिनि मोरे ।
सकल प्रकार भक्ति दृढ़ तोरे ॥

यह श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं सेवरी से नवधाभक्ति कही है। अध्यात्म रामायण में लिखा है :—

"पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातीनाश्रमोद्भवः ।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेवदिकारणम् ॥
यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः ।
नैव द्रष्टुमहं शक्यो मद्भक्ति विमुखैः सदा ॥

अर्थात् श्रीराम जी कहते हैं कि पुरुष, स्त्री, जाति और आश्रम ये मेरे भजन में कारण नहीं है, केवल भक्ति ही कारण है। और जो मेरी भक्ति से विमुख हैं वे यज्ञ, दान और वेदाध्ययन आदि कर्मों को कर के भी मुझे कभी नहीं देख सकते हैं। कईएक आचार्यों का मत है कि परमेश्वर के स्वरूपज्ञान ही से मुक्तिलाभ होता है, परन्तु यह ठीक नहीं है। जैसे एक मनुष्य को किसी राजा का स्वरूप ज्ञान बहुत अच्छा है पर इस से क्या ? वह राजा बिना अपनी भक्ति किये ही उसे कुछ देगा ? अथवा कुछ भोजन की सामग्री रक्खी है हम को उस के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान है कि इस में पूरी और मिष्टान्न है और वह आटा, घृत, मीठा आदि से

संयोग से बना है, पर क्या इस के ज्ञान ही से भूख मिट जायगी ? कदापि नहीं। वैसे ही भगवान् को केवल जानने ही से सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वह अपने स्वरूपज्ञों पर किस सम्बन्ध से प्रसन्न होंगे। अतएव नारद जी ने कहा है :—
" ओं तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः। " अर्थात् इस कारण मोक्ष की इच्छा करनेवाले लोग उसी भक्ति का ग्रहण करें। वह भक्ति विषयत्याग से, सङ्ग त्याग से सतत भजन से, सत्सङ्ग से, भगवान् के गुणों के श्रवण और कीर्त्तन से और वस्तुतः भगवान् की कृपा ही से सिद्ध होती है। ऐसा ही परम भागवत जड़भरत जी ने रहूगण को उपदेश किया है :—

"रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्य्यैविनामहत्पादरजोऽभिषेकात् ॥"

अर्थात् हे रहूगण ! यह सिद्धि महानुभावों के चरणरज से नहाये बिना तपस्या से नहीं होती, न यज्ञादि कर्म करने से, न घर छोड़ कर योगी बनने से, न वेदों के पढ़ने से न जल से (स्नान सन्ध्यातर्पणादि करने से) न अग्नि से (पञ्चाग्निसाधन या अग्निहोत्र से) न सूर्य से (सूर्य्योपस्थान या ग्रीष्मताप सेवनादि से) अर्थात् और किसी से नहीं हो सकती। यह भक्ति ऐसी है जिस को पा कर मनुष्य सिद्ध होता है, अमृत होता है और तृप्त होता है। यह वही है जिस को पा कर न किसी को चाहता वा किसी कारण शोक करता, वा किसी से द्वेष करता, वा किसी से रमता, व

किसी विषय का उत्साह करता केवल आत्माराम हो जाता है। भक्तिसूत्र—

"यं लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति,
अमृतो भवति तृप्तो भवति।
यत्प्राप्य न किञ्चिद्वांछति न शोचति,
न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥"

इत्यादि।

भक्त लोग भगवान् के अनेक लीलार्थ धारण किये हुये अनेक स्वरूपों के कर्म, गुण और पराक्रम को सुन कर अत्यन्त हर्ष से रोमाञ्चित अश्रु से गद्गद कण्ठ हो जाते हैं, और बड़े ऊंचे स्वर से गाते नाचते और हंसते हैं। कभी २ तादात्म्य गति से "हे हरे नारायण, वासुदेव, गोविन्द" आदि नाम से लज्जा छोड़ कर पुकारते हैं और कभी २ बारम्बार लम्बी सांस लेते हैं। जब ऐसी गति हो जाती है तब सब बन्धनों से छूट कर भगवद्भाव हो के भाव वही अनुकरण वही चेष्टा वही आशय वैसा ही आकार इत्यादि करने लगते हैं। और अपने प्रेम से सुकर्म और दुष्कर्मों के बीजों को जला कर परम भक्ति से भगवान् को प्राप्त होते हैं। त्रिकाल में सत्य भगवान् की भक्ति ही मुक्ति के लिये सब साधनों से बड़ी है केवल भक्ति ही बड़ी है। इस विषय को धराटा घोस कर के नारद जी ने मुक्त कण्ठ से कहा है।—

ॐ त्रिसत्यस्य भक्तिरेवगरीयसी, भक्तिरेवगरीयसी।"

इस में न विद्या का काम है, न धन का, न वेदाध्ययन का, न आचार का, न उत्तमता का और न वर्ण का, क्योंकि गणिका को क्या विद्या थी, सवरी को क्या धन था, गोपियों ने कौन वेद पढ़ा था, ध्रुव का कौन आचार था, गज को क्या उत्तमता थी और केवट का कौन वर्ण था ? वे सब केवल भगवद्भक्ति ही से मुक्त हुये हैं। लिखा है।—

" भक्त्येव तुष्टिमभ्येति हरिरन्य द्विडम्बनन्।"

भक्त्या तुतोष भगवान् गज यूथपस्य "

" भक्तिमान् यस्त मे प्रियः " भक्त्या हमेकया ग्राह्यः।"

धर्मार्थकामैः किंतस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता।

समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि॥ "

" तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् "।

" मयि भक्तिर्हिभूतानाममृतत्वाय कल्पते। "

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति प्रयाचते।

अभयं सर्ब्बभूतेभ्यो ददाम्येत द्व्रतं मम॥ "

" भक्तिप्रियो माधवः " " अहं भक्तपराधीनः "

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति "

इत्यादि वेद, उपनिषद्, श्री मुख वाक्य, महाभारत, व्याससूत्र, नारदसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र पुराण, और तन्त्रों से सिद्ध है कि इस असार संसार रूपी समुद्र से मुक्ति के लिये सब साधनों में मुख्य साधन केवल भक्ति ही है।

अवतार निरूपन।

सर्व्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द करुणा निधान भगवान् अपने भक्तों ही के अर्थ अवतार लेते हैं। अवतारों में लीला मूलकत्व रहने पर भी तीन उद्देश्य देखे जाते हैं। प्रथम दुष्टों के दमन पूर्व्वक सत्पुरुषों की रक्षा, द्वितीय धर्मरक्षा पूर्व्वक जगत् का मङ्गल और तृतीय सगुण लीला द्वारा उस समय प्रत्यक्ष उपासक तथा भविष्यत्काल के उपासकों का सौकर्य साधन। श्रीमद्भागवद्गीता में स्पष्ट श्रीमुख से भगवान् ने कहा है—

> " यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थान मधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"

अर्थात् हे अर्जुन! जब जब धर्म की अवनति होती है और अधर्म की बढ़ती होती है तब तब मैं अवतार लेता हूं। सज्जनों की रक्षा के लिये, पापियों के विनाश करने के लिये और धर्म को स्थापन करने के लिये मैं युग युग में प्रत्यक्ष अवतार धारण करता हूं। भगवद्गीता अ० ४ थं।—

> "जन्म कर्म च मेदिव्यमेवं यो वेदतत्वतः।
> त्यक्तादेहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन!॥"

हे अर्जुन! जो इस प्रकार मेरे दिव्य जन्म और कर्म को भली भांति जानता है वह देह को छोड़ कर फिर जन्म नहीं लेता परन् मुझ को प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवत १० म स्कन्ध में लिखा है :—

"अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोप व्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम्॥
प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्न जनतानन्द सन्दोहं प्रथितुं प्रभो॥"

और भी :—

शृण्वन् गृणान् संस्मरयँश्च चिन्तयन्,
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्द यो—
राविष्टचित्तो न भवाय कल्पते॥"

इन सब वचनों का सारांश यह है कि भगवान् के नाम, रूप और चरित्र में चित्त लगाने से सद्गति होती है। इस (अवतार) विषय में बहुत प्रमाण लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अद्यावधि नवधा भक्ति के आश्रयस्वरूप अवतार ही है। प्रायः सब व्रत भी अवताराश्रित हैं तथा अयोध्या मथुरा आदि तीर्थ भी अवताराश्रित ही हैं। कहीं २ भगवान् का अवतार केवल भक्तों की प्रार्थना से उन के अभिलाषपूरणार्थ ही होता है, जैसे कच्छपावतार हुआ। भगवान् का यही स्वभाव है कि जो सच्चे प्रेम से जैसी उपासना करें उन के लिये वैसा ही रूप धारण कर के उन का उद्धार करते हैं। "यथा यथोपासते तदेव भवति।" मण्डल ब्रा०। गीता—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"

यह समझने की बात है कि अवतारलीला के प्रयोजक

प्रार्थना, प्रकृति और इच्छा ये तीन हैं। जैसे नन्दादि की प्रार्थना के अनुसार भगवान् ने कृष्णावतार ग्रहण किया, गोपी आदि की जन्मान्तर की प्रार्थनानुसार अनेक लीला की और ऋतु ग्रामादिक की प्रकृति के अनुसार भी विविध लीलायें की तथा केवल जगत् के उद्धारार्थ अपनी इच्छा से अनेक लीला की। जिस समय सर्व्वत्र जल ही जल भरा है उस समय वह प्रकृति किरीट कुण्डलादि से भूषित रूप नहीं चाहती, किन्तु मत्स्यरूप ही उस के अनुकूल है। एवं जल में निमग्न मन्दर को धारण करने के लिये कठिन पृष्ठ-वाला कमठावतार ही प्रकृति के अनुसार योग्य है। और पङ्क में घुस कर पृथ्वी निकालने के लिये शूकरावतार ही प्रकृत्यनुकूल है। ऐसे ही प्रकृति आदि के अनुसार प्रभु की लीला पशुरूप में भी शोभित होती है फिर मनुष्यलीला में क्या कहना है। उलखल में बन्धन मुख में त्रिलोकीदर्शन माखन.दूध की चोरी आदि का आनन्द वे ही लोग जानते हैं जो भक्ति के अधिकारी हैं। इस (अवतार) विषय में बहुत लोगों की यह शंका होती है कि ईश्वर को अवतार लेने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि सर्व्वान्तर्यामी सर्व्व शक्तिमान् ईश्वर की इच्छा है। देखिये सर्व्व.प्रमाणशिरोमणि बृहदारण्यक उपनिषद् चतुर्थ ब्राह्मण तृतीय श्रुति में क्या लिखा है :—

"सवै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते सद्वितीय मैच्छत्॥"

अर्थात् वह रमण नहीं करते थे, अकेले रमण नहीं करते

इसलिये द्वितीय की चाहा। जिस परमेश्वर ने अनेक कोटि ब्रह्माण्डों की रचना केवल लीला के लिये की है उस ने भक्तों की रक्षा के लिये अवतार धारण किया तो इस में क्या असम्भव है? लिखा है।—

"वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोल मुद्बिभ्रते,
दैत्यान् दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते।
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृति कृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥"

"वेद उधारन मन्दर धारन भूमि उधारन ह्वै बन चारी।
दैत्य विनाशी बली के छली क्षय कारक क्षत्रिन के असुरारी।
रावण मारन त्यों हल धारन वेद निवारन म्लेच्छ विदारी।
यों दश रूपविधायक कृष्णहिं कोटिन कोटि प्रणाम हमारी॥

आज कल्ह दैवसंयोग से ऐसा भयानक समय उपस्थित हुआ है कि यद्यपि अष्टादश पुराण तथा उपपुराणों में अवतारों की कथा भरी हुई है तथापि उन में साधारण लोगों को सन्देह होता है कि भगवान् के अवतार होने में क्या प्रमाण है? बड़े आश्चर्य की बात है कि पुराणों के प्रमाण को नहीं मान कर अन्य प्रमाण की लोग अपेक्षा करते हैं और कह बैठते हैं कि पुराण तो नवीन कपोल कल्पित है उस का क्या प्रमाण है? हमें तो वैदिक मन्त्र ही प्रमाण के लिये चाहिये। यह केवल कलि महाराज का प्रताप है जिस से ऐसी २ तुच्छ बातें मुख से निकलती हैं। जिन

पुराणों की प्रशंसा वेद पर्यन्त में मिलती है उन की प्रमाणिकता में शङ्का क्यों ? देखिये सामवेदीय छान्दोग्य प्रपाठक ७ ख० २

"सहोवाचर्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमंवेदानां वेदंपित्र्यंराशि दैवंनिधि वाको वाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्वंदेव जनविद्याम्॥

यहां प्रत्यक्ष पुराणों की उतनीही प्रशंसा मिली है जितनी वेदों की। पुराणादिक वेद के अनुकूल ही चलनेवाले हैं प्रतिकूल कदापि नहीं कहते, यदि वैदिकमन्त्र पर आग्रह है तो उस का भी प्रमाण लीजिये। और अथर्व वेद की गोपालतापिनीउपनिषद् के उत्तर भाग में देखिये—

साहोवाच गान्धर्वी कथं वासासु जातोऽसौ गोपालः कथं वा ज्ञातोऽसौ त्वयामुने कृष्णः को वास्यमन्त्रः किं वास्यस्थानं कथं वा देवक्यांजातः कोवास्य ज्यायान् रामोभवति कीदृशी पूजास्य गोपालस्य भवति साक्षात् प्रकृति परोयोऽयमात्मा गोपालः कथं त्ववतीर्णो भूम्यां हिवै सहोवाचतां हवै।"

इत्यादि प्रकरण ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त को पढ़िये और समझिये। इस में मथुरापुरी तथा वृन्दावन का भी पूरा निरूपण है और राम कृष्णादि की मूर्त्ति का भी प्रकरण है।

इस कारण अवतारों का वैदिकत्व भी सिद्ध हो है। वामनावतार का वर्णन यजुर्वेद पञ्चम अध्याय १५ वें मन्त्र में तथा साम वेद अ० ८ म खण्ड तीसरे सूत्र में लिखा है।—

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्।
समूढ़मस्य पांसुरे॥"

अर्थात् वामनावतार में भगवान् विष्णु ने एक डेग पृथिवी पर, द्वितीय अन्तरिक्ष में और तृतीय स्वर्ग में रक्खा इस प्रकार उन का चरण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो गया।' नृसिंह तापनी उपनिषद् में तथा ऋग्मण्डल खण्ड ४ अध्याय २१, सूत्र १५४ में लिखा है :—

प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥"

अर्थात् जिस की कृपा से सब संसार के प्राणी आनन्दित रहते हैं, वही भगवान् नृसिंहावतार धारण कर के दुष्टों का दमन और भक्तों को अभयदान दे कर स्तुति को पाते हैं। ऋग् म० ९ अ० ५ सू० ८७ :—

"प्रकाव्य मुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमाविवक्ति।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः यदा वराहो अभ्येऽति॥"

अर्थात् देवों के देव, पवित्र जीवों के बन्धु पापशोधक भूमि का उद्धार करने के लिये वराहावतार धारण कर के

शुक्राचार्य के समान काव्य सुनानेवाले शब्द करते हुए भगवान् पैदल चले आते हैं, इस से वराहावतार स्पष्ट सिद्ध हुआ। सामान्यतः अवतार सिद्धकारक यजुर्वेद पुरुष सूक्त है :—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्ययोनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥"

अर्थात् प्रजापति पुरुषोत्तम भगवान् सब वस्तुओं के भीतर प्रकाश करते हैं। यद्यपि अनुत्पत्तिधर्मा हैं तथापि रामादिक अनेक रूप से प्रादुर्भूत होते हैं। ब्रह्मवादी लोग उन के उत्पत्तिस्थान को देखते हैं और अनुभव करते हैं। और उसी परमात्मा में सब लोग स्थित हैं। अर्थात् अवताररूप से एक देशवर्त्ती आकार ग्रहण करने पर भी वह सर्व्वान्तर्यामी जगदीश्वर सर्व्वव्यापकत्व सर्व्वलोकाधारत्व और ब्रह्मत्व को नहीं छोड़ते। श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है :—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामवस्थाय सम्भवाम्यात्ममायया॥"

अर्थात् यद्यपि मैं अज और अव्यय हूं और सब भूतों का ईश्वर भी हूं, तथापि अपनी प्रकृति का आश्रय कर के अपनी माया से अवतार लेता हूं, इत्यादि अनेक प्रमाण हैं परन्तु ग्रन्थविस्तार के भय से यहां नहीं लिखता हूं। और आस्तिक सनातन धर्मावलम्बी लोग ही इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं, जिन के हृदय में इस प्रकार की शंका कभी होही नहीं

सकती, तो फिर व्यर्थ इस विषय में शंका समाधान करने से क्या प्रयोजन है।

वस्तुतः भक्ति ही मुक्ति का साधन के लिये मुख्य उपाय है यही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। उस भक्ति का प्रधान अङ्ग मूर्त्तिपूजा है। जिस के विषय में कुछ थोड़ी सी मीमांसा यहां अवश्य कर्त्तव्य है। मूर्त्तिपूजा के विरोधी विधर्मियों को प्रायः येही प्रधान दो तीन शङ्कायें हुआ करती हैं। प्रथम शङ्का यह है कि मूर्त्ति की पूजा से भगवान् कैसे प्रसन्न होंगे, क्योंकि उन को तो मूर्त्ति है ही नहीं। इस प्रश्न का उत्तर यही कहा जायगा कि हम लोग मूर्त्ति को साक्षात् भगवान् ही समझ कर पूजते हैं। यह बात हमलोगों के ध्यान में नहीं आती है कि मूर्त्ति भगवान् से अन्य है। क्योंकि सर्व्वव्यापी भगवान् सर्व्वत्र विद्यमान हैं, ऐसी कोई वस्तु नहीं है जहां वे न हों। और यह कह देना बड़ी भूल है कि उन की कोई मूर्त्ति है। देखिये वेद में स्पष्ट लिखा है :—

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सभूमिं सर्वतः स्पृष्ट्वाऽत्यतिष्ठ द्दशाङ्गुलम् ॥"

वह सर्व्वान्तर्यामी परमात्मा यद्यपि निराकार है तथापि भक्तों को भक्तिमार्ग पर चलाने के लिये साकार होते हैं। और यह समस्त चराचर संसार उन का स्वरूप है। वेद में लिखा है :—"पुरुष एवेदं सर्व्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम्।" अर्थात् जो हुआ और जो होनेवाला है सो सब परमेश्वर ही है।

" एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥"

एक ही अद्वितीय ब्रह्म है यहां भिन्न २ कुछ नहीं है। "सर्व्वंखल्विदं ब्रह्म" यह सब ब्रह्म है इत्यादि वेदवाक्यों को समझे विना जो लोग जगत् और ब्रह्म को परस्पर भिन्न २ समझ कर यह शङ्का करते हैं सो व्यर्थ है। दूसरी बात यह है कि हमलोग भगवान् की मूर्त्ति की प्रतिष्ठा और आवाहन कर के भगवद्बुद्धि से उस की पूजा करते हैं न कि पाषाणादि भाव से। अब द्वितीय प्रश्न यह होता है कि निराकार भगवान् की साकार कल्पना कैसी। इस का उत्तर प्रथम प्रश्नोत्तर के साथ ही हो चुका है। जितने मूर्त्तिपूजक हैं वे साकारवादी ही हैं। सत्कार्य वाद का यह तात्पर्य है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पहिले भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है क्योंकि जो पहिले से है ही नहीं वह किसी प्रकार प्रगट नहीं हो सकता। तिल में तैल है अतएव निकलता है। बालू में नहीं है इस कारण बालू से तैल नहीं निकलता। इसी सिद्धान्त पर भगवान् का वचन है।—

" नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

सांख्यकारिका में भली भांति सत्कार्य का निरूपण किया है।—

"असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्व्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥"

वेद में भी लिखा है—" सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।" इत्यादि। केवल जगत् के आकारों से ईश्वर की आकारवत्ता

सिद्ध करने में वेद को सन्तोष नहीं हुआ है अतएव राम कृष्णादि रूप से भी विशेष आकार को लक्ष्य कर लिखा है :—

"यातेरुद्र शिवातनूरघोरा पापकाशिनी"

"बाहुभ्यामुतते नमः" इत्यादि वेदप्रमाण से ईश्वर की साकारता सिद्ध है। तीसरी शङ्का यह है कि वेद में लिखा है कि ईश्वर की प्रतिमा नहीं है तो फिर वेदविरुद्ध प्रतिमा का पूजन क्यों करना ? इस प्रकार शङ्का करनेवाले—

"न तस्य प्रतिमाअस्ति यस्य नाम महद्यशः।"

इस वेदमन्त्र का अर्थ करते हैं कि उस परमात्मा की प्रतिमा अर्थात् मूर्त्ति नहीं है जिस का नाम और बड़ा यश है। अतएव प्रतिमा पूजन नहीं करना। इस पर विचारने की बात है कि मन्त्र का अर्थ तो इतना ही हुआ कि ईश्वर की प्रतिमा नहीं है तो फिर प्रतिमा की पूजा नहीं करना यह अर्थ किस का है। अस्तु उस की प्रतिमा नहीं है मत हो, हम उस अप्रतिम ईश्वर को प्रतिमाद्वारा पूजते हैं। इस का निषेध तो इस श्रुति का विषय नहीं है और कथमपि निषेध नहीं हो सकता। अब यहां प्रतिमा शब्द का अर्थ क्या है सो समझ लीजिये। प्रतिपूर्वक मा धातु से प्रतिमा शब्द बना है इस का अर्थ जैसे मूर्त्ति होता है वैसा ही उपमा भी अर्थ है। यहां उपमा ही अर्थ है। यद्यपि इस में प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संस्कृतज्ञ सभी लोग भली भांति समझ सकते हैं तथापि उपमार्थक प्रतिमा शब्द का उदा-

हरण महाभारत में और रामायण के प्रारम्भ में देखिये।—
बाल्मीकीय रामायण :—

"सतन्नियोगात्खलु सत्यवादी सत्यांप्रतिज्ञां नृपपालयँस्त ।
इतो महात्मा वनमेव रामो गतः सुखान्यप्रतिमानिहित्वा ॥"

यहां यही तात्पर्य है कि जिन की तुलना नहीं ऐसे अनुपम सुखों को त्याग कर श्री रामचन्द्र जी बन गये। यहां यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि रामचन्द्र जी ऐसे सुखों को छोड़ कर बन गये जिन सुखों की मूर्त्ति नहीं है। इसी प्रकार महाभारत में राजा नल के वर्णन में लिखा है।—
"रूपेणाप्रतिमो भुवि।" इस का अर्थ यही है कि राजा नल ऐसे रूपवान् थे कि उन के रूप का सादृश्य कहीं नहीं पाया जाता था। यदि—"न तस्य प्रतिमास्ति" इत्यादि वेदवचन के पूर्व्वापर प्रकरण को देखिये तो स्वयं समझ में इस का अर्थ आ जायगा कि उस परमात्मा की तुलना नहीं है जिस का नाम और यश बड़े हैं। अब यही प्रश्न अवशिष्ट है कि मूर्त्तिपूजा में प्रमाण क्या है? देखिये मनु जी ने अपनी संहिता के ४ थे अध्याय में लिखा है—

"मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावन मञ्जनम् ।
पूर्व्वाह्णएव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥"

अर्थात् पूर्व्वाह्ण ही में शौच, स्नानादि नित्य कार्य और देवताओं की पूजा करना चाहिये। यों मूर्त्तिपूजा के विषय में नारद तथा याज्ञिक आदि महात्माओं के, पद्धतिकारों के,

आचार्यों के पौराणिक श्री वेदव्यास जी के, स्मृतिकारों के और वाल्मीकीय रामायण के मूर्त्तिपूजा के बोधक अनेक वचन दृढ़ शब्द प्रमाण है। यद्यपि इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं तथापि यदि कोई कहे कि विना वैदिक प्रमाण के मुझे सन्तोष नहीं होता तो उन के सन्तोषार्थ वैदिक प्रमाण भी देखिये। साम-वेदीय षड्विंश ब्राह्मण षष्ठ प्रपाठक में लिखा है :—

"दैवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति।"

यह उत्पात और शान्ति का प्रकरण है कि देवमन्दिर कांप उठे और देवमूर्त्तियां हँस पड़े, तो उत्पात है और आगे इस की शान्ति लिखी है। इस प्रकार वेद में भी देवमन्दिर और देवमूर्त्ति की चर्चा लिखी है अतएव मूर्त्तिपूजा के विषय में शङ्का समाधान करना उचित नहीं है।

संसार रूपी दुस्तर महासागर को पार हो कर मोक्षलाभ करने के लिये सब उपायों से सुलभ भक्तिमार्ग ही है। इसी भक्ति के द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य आदि नष्ट होते हैं और सब पाप दूर होते हैं तब मुक्ति मिल जाती है।

"अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥"

जो भगवान् के प्रिय भक्त हैं उन्हीं को ज्ञानलाभ भी होता है। भगवान ने स्वयं गीता में कहा है :—

"मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्व्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥"

अर्थात् जो लोग मुझ में चित्त और प्राणों को समर्पण कर सदा मुझे स्वयं समझते दूसरों को भी समझाते प्रसन्न चित्त हो कर आनन्द करते और प्रेम से मेरा भजन करते हैं उन्हीं प्रिय भक्तों को मैं ज्ञान देता हूं जिस से वे मुक्तिप्राप्त करते हैं।

मुक्ति शब्द मुच् धातु से क्ति प्रत्यय करने से बना है इस का अर्थ मोक्ष है। किसी आचार्य की सम्मति है कि संसार में आवागमन के विनाश ही को मुक्ति कहते हैं —

"गमनागमनस्यैव नाशो मुक्तिर्भवान्तरे ॥

कोई कहते हैं—

"दुःखनाशस्सुखप्राप्तिर्मुक्तिरित्यभिधीयते

दुःखों का नाश और सुख की प्राप्ति ही मुक्ति कही जाती है। किसी महात्मा की उक्ति है—"मुक्तिर्मायाविनाशतः ।" माया के विनाश ही से मुक्ति होती है। किसी का मत है :—

"मुक्तिरित्युच्यते धीरैर्यत्र दुःखं न वा सुखम् ।"

सांसारिक दुःख और सुख का नाश ही मुक्ति है। कोई महाशय कहते हैं।—मुक्तिरस्वपरतन्त्रता।" अर्थात् स्वतन्त्रता ही मुक्ति है। किसी ने लिखा है :—

"मनसश्च शरीरस्य नाशोमुक्तिः प्रकीर्त्तिता ।"

मन और शरीर के नाश को मुक्ति कहते हैं। किसी महात्मा का वचन है :—

"पञ्चभूतानि सर्व्वाणि तत्त्वानि परमेश्वरे ।
मिलितानि सदानन्दे तदा मुक्तिर्निरत्यया ॥"

अर्थात् पञ्चभूतों के साथ सब तत्व जब सच्चिदानन्द परमेश्वर में मिल जाते हैं तब निरत्यय (अक्षय) मुक्ति होती है। कोई (गुणवादी) कहते हैं।—"गुणनाशाद्भवेन्मुक्तिः ।" गुणों के नाश से मुक्ति होती है। वेदान्ती लोग कहते हैं—

"ब्रह्मस्वरूप भवनं कैवल्यं विनिगद्यते ॥"

अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होने को कैवल्य (मुक्ति) कहते हैं। इत्यादि इस प्रकार कई लक्षण मुक्ति के लिखे हैं परन्तु सबों का तात्पर्य्य एक ही है। यह मुक्ति सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य और सामीप्य भेद से चार प्रकार की है। शास्त्रकारों ने लिखा है कि मुक्ति का प्रतिबन्धक केवल माया है जिसे अविद्या, प्रकृति आदि नामों से कहते हैं, इस माया का विनाश केवल भक्ति ही के द्वारा होता है। भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है :—

"दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥"

अर्थात् त्रिगुणात्मिका मेरी दैवी माया दुरत्यया है जो मेरे भक्त मेरी ही शरण में आते हैं वे ही इस माया को तरते

हैं। सर्व्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परमेश्वर को भक्ति द्वारा प्राप्त करना ही मोक्ष है यही सब वेद शास्त्र स्मृति और पुराणों की सम्मति है। भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है :—

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमांगताः॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन!।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥"

अर्थात् हे अर्जुन! जो पुरुष सदा चित्त को एकाग्र कर के बराबर मेरा स्मरण करता है उसी नित्ययोगी पुरुष को मैं सुभीते से मिलता हूं। मेरे पास आने से परम सिद्धि को पा कर महात्मा लोग फिर दुःखों से भरे हुए और क्षणभङ्गुर जन्म को नहीं पाते। हे अर्जुन! ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोग बार बार जन्म लेते हैं परन्तु मेरे पास आकर (मुझ को पा कर) फिर जन्मकष्ट सहना नहीं होता है।

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः॥

विना रोमाञ्च के, विना चित्त के पिघले और आनन्दाश्रु की धारा के साथ भक्ति के किस भांति हृदय शुद्ध हो सकता

है अर्थात् भगवान् के चरणारविन्द में भक्ति के विना कथमपि हृदय शुद्ध नहीं हो सकता। इस लिये सदा भक्ति करनी चाहिये जिस से मुक्ति का लाभ होता है।

श्रीमद्विक्रमवत्सरे विधुरसाङ्केन्द्वङ्किते पत्तने
छप्राख्ये सरयूतटे शिवकरं श्रीधर्मनाथेश्वरम्।
नत्वा श्रीरघुनन्दनेन रचितः श्रीधर्मचिन्तामणि-
र्भूयात्प्रीतिकरः सदा भगवतो रत्नेश्वरस्यानिशम् ॥

॥ इति—शम् ॥

श्रीशो रक्षतु सम्राजम्।

श्रीमन्तं परमेश्वरं प्रतिपलं धन्यं वदामो मुदा।
नत्वा, यत्कृपया श्रिया परमया मेरोर्महिष्या समम्॥
साम्राज्यं समवाप्य रक्षति महीमाखण्डलो द्यामिव।
श्रीमान् पञ्चमजार्ज-भूपतिवरः श्रीराजराजेश्वरः॥

श्री राजराजेश्वर नवरत्नम्।

पालय पालय शिव करुणालय पञ्चमजार्जनृपालम्॥ ध्रुवम्॥
मङ्गलमयतयुततनुमतुलातनुनयविजिताहितजालम्।
शारदशशिकरनिकरविजित्वरयशसमशेषनृपालम्॥
सकलमहीतलगतजनलालितगुणगणकीर्तिविशालम।
कुरु विपुलायुषमखिलकलापुषमचलवलं महिपालम्॥ १॥
दिल्लीनगरे राज्ञीसहितं राजासनमधिरूढम्।
विदधतमखिलजनेषु यथाविधि, नयशासनमतिगूढम्॥
भगदालयविद्यालय-शाल्याबहुविधकलावितानम्।
विदधानं बहुयानविमानं, बहुमानं दयमानम्॥ २॥
धर्मधुरन्धरमखिलगुणाकरमनुपममतिमहिमानम्।
जितरिपुकुलमनुरञ्जितलोकं निरुपमरूपनिधानम्॥
गुणिजनवर सुरतरुमसमानं, वितरन्तं बहुदानम्।
कारं कारं बहुसन्मानं, सततं कर्णसमानम्॥ ३॥
यस्य सुराज्ये तरणिरहर्निशमटति जवेन दिगन्तम्।
दर्शं दर्शं मुहुरागच्छति, विन्दति नैव तदन्तम्॥
रजनीकरकरनिकरविकाशितमवनितलं सितपक्षे।
यस्यकलाभिर्निखिलं धवलं भवति सदोभयपक्षे॥ ४॥

यस्य सुदेशे सकला ऋतवः समं सदा विजयन्ते।
अन्योन्यं प्रतिकूला अपि ते यं युगपत् सेवन्ते॥
यस्मिन् शासति वसुधां प्रबला अबलान्नहि बाधन्ते।
प्रत्युत सख्यं विदधति सर्वे सच्चरितानि भजन्ते॥
शासनमाला दधति नृपाला मालाइव सुविनीताः।
अतिगच्छन्ति न जातु यदाज्ञामविनीता अपि भीताः॥
यैः सुगृहीता देवानुज्ञा ते देवानुगृहीताः।
तानवलोक्य सरन्ति विदूरं तद्विपदोऽप्यतिभीताः॥
पौषकृष्ण रवितिथौ कुजेऽहनि वसुरसनिधिशशि वर्षे।
राजनि सिंहासनमधिरूढे राजति भारतवर्षे॥
अहमहमिकया मुदिता जनता निजनिजबलानुसारम्।
कारं कारं बहुसत्कारं कुरुते जय जय कारम्॥
जय जय भारत नृप राजेश्वर पञ्चम जार्ज कृपालो।
[illegible] नयसागर गुणिगणगुणगृहयालो॥
जय जय भारतनृपराजेश्वरि श्रीमति मेरि दयालो।
पालय भूतलमिह बहुकालं परमरमातिशयालो॥
यदवधि वियति विराजति विमलं रविशशिबिम्बमुदारम्।
तदवधि सम्राजं भर शङ्कर सहपरिजनपरिवारम्॥
गीतमिदं रम्यं सुरसमेतं विज्ञवरै रविगीतम्।
गेयं श्रीरघुनन्दनरचितं मधुरं मङ्गलगीतम्॥

रघुनन्दन त्रिपाठी—साहित्याचार्य,

सेक्रेटरी, बिहार संस्कृत सञ्जीवन समाज।

GOD SAVE THEIR MAJESTIES

Every moment we heartily thank the Almighty God through Whose Grace their Majesties, King George V and Queen Mary are ruling this great empire as Indra rules heaven.

Nine Verses in praise of their Imperial Majesties.

May God Siva the Ocean of Kindness protect King George V.

I. Long live the King Emperor possessed of all blessings defeating his enemies with his unrivalled and great policy, of moonlike fame, protector of the people endowed with merits, loved by residents of the whole earth, skilled in all the arts and mighty in strength.

II. Occupying with his Queen the Royal Throne at Delhi, ruling over his people as a King ought to do, founding hospitals, colleges, irrigation works and other useful institutions, putting in use steam vehicles and air-ships, full of mercy.

III. Virtuous, meritorius, unrivalled, great, victorious over enemies, pleasing his people, majestic in appearance, rewarding men of merit with various gifts like Karna of old.

IV. The sun wanders in his vast king-dom and traversing the quarters comes back again and again without ever seeing the end. Else-where the moon-light illumines the land only in the bright fortnight but our King's empire has always a moonlit night throughout the month.

V. All the seasons though antagonistic to one another are always present in this vast empire to render service, as it were, to their Majesties. The strong do not oppress the weak in this empire. All are friendly and do their duties.

VI. Rajas and Maharajas respecfully receive His Majesty's commands like strings of flowers. Even the wicked can not make bold to violate his command. Blessed are they who do not violate His Majesty's orders, for such persons can not be oppressed by calamities.

VII. Our King occupies the throne in India on Tuesday, the 7th of the dark fortnight of Pusha (Pausa) in 1968 (Vikrm era) and all his people wish to outrival one another in expressing their love and respect for their King and announce victory to him.

VIII. Victory to the King Emperor, the merciful, kind, wise, appreciative King George V. Victory to the Empress, The Most Gracious Queen Mary. May their Majesties rule the world long.

IX. May God Siva protect the King, his family and his ministers so long as the Sun shines and the Moon illumines in the clear blue sky.

May the learned sing this auspicious song composed by Sri Raghunandan Tripathi.

Raghu Nandan Taipathi,
Sahityacharya etc,
Head Pandit, Zila School, Gaya,
&
Secretary, Behar Sanskrit Sanjiwan Samaj.